प्रकाशक—

सुमति सदन

जैन प्रेस, कोटा [राजस्थान]

मूल्यं १॥) सार्धैकरुप्यकम्

ई० सं० १९५८] वि० सं० २०१४

श्रीसूरीश्वर-शास्त्र-सागर-मणिः वादीभपञ्चाननः,

तं श्रीजैनविधौ गणे दिनमणिं ध्यायामि हृत्ध्वान्तहम् ।

हिन्द्यामागमसंप्रसार-मणिना प्रोद्धारि येन श्रुतं,

भव्यानामुपदेशदानमणये तस्मै नमः सर्वदा ।

यस्मात्प्रादुरभून्मणेः शुभविभा श्रीगौतमाद्वागिव,

वागीशानिव वादिनो जितवती वादेषु संवादिनः ।

शान्त्यापूर्णनिधेः मणेः समुदयो तत्त्वानि सम्यकदिशन्,

प्रयच्छन् सुधियं परां शुभमणौ लीनं मनो नोऽवतात् ।

चारुचरणचंचरीक-

विनय.

दो शब्द

विरह को शृंगार-शैल का उच्चतम शृंग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। यही कारण है कि शृंगारी कवि विरह-काव्य में जितने सफल हुये हैं उतने अन्यत्र नही। हमारे साहित्य में तो विरह ने एक ऐसा अद्वितीय स्थान प्राप्त किया है कि लोक-गीतो से लेकर खण्डकाव्यो तथा महाकाव्यो तक इसके चित्रण में जितनी पूर्णता एव प्रवीणता दिखलाई पडती है उतनी शायद ही किसी दूसरे काव्य-विषय मे मिले।

यो तो अनेक विरह-काव्य लिखे गये, परन्तु कालिदास के मेघदूत ने जो ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त की वह अन्य किसी को न मिली। आज इस ग्रन्थ पर ४० से अधिक टीकायें मिलती हैं, अनेक कवियो ने इसके अनुकरण पर स्वतत्र काव्य रचे, बहुतो ने समस्यापूर्ति के ढग पर इसका अनुकरण किया—ये सब बातें मेघदूत की सफलता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं।

कवि-कुल-भूषण कालिदास की इस अमर कृति के आधार पर ही प्रस्तुत काव्य नेमिदूत की रचना हुई हैं। मेघदूत के प्रत्येक पद के अन्तिम चरण को लेकर कवि ने समस्या-पूर्ति करते हुये १२५ पदो में श्रीनेमिनाथ जी के चरित्र की एक घटना को गाया है। विवाह-काल में ही वैराग्य हो जाने से अपनी पत्नि राजीमती को परित्याग कर भगवान् पर्वत शिखर पर आकर योगासक्त होजाते हैं, उधर राजीमती विरहाकुल होकर व्यथित होती है और अन्त में अपने स्वामी की शरण मे आकर अपनी विरह-कथा प्रस्तुत करती है। यही इस काव्य का विषय है। समस्या-पूर्ति के बन्धन में रहते हुये भी कवि ने जिस उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि की है वह अत्यत प्रशसनीय है।

नेमिदूत के लेखक कोई विक्रम नामक कवि हुये हैं। ये कहां के रहने वाले थे, इनका जन्म कब हुआ और इन्होंने इस काव्य की रचना कब और कहा की— इनका अथवा ऐसे ही और प्रश्नो का उत्तर अभी तक नही दिया जा सका है। इसी काव्य के १२६ वें श्लोक के 'सांगणस्याङ्गजन्मा'

को लेकर इनके पिता का नाम 'सांगण' बताया जाताहै। मूल की कितनी ही प्रतियो में सागण के स्थान पर 'झांझण' मिलता है, किन्तु काव्य की पुरातन प्रतियो एव टीका के आधार पर सागण ही ठीक प्रतीत होता है। अस्तु इस कवि के सम्बन्ध में विद्वद् समाज में ३ मत स्थिर किये गये हैं.—

१—जैन साहित्य महारथी मोहनलाल द देशाईजी के "जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास" में एंव छोटालालजी द्वारा लिखित "जैन मेघदूत की प्रस्तावना" मे इस कवि को सागण सुत मानकर गुर्जर महाकवि ऋषभदास का भ्राता माना गया है।

२—प० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने "जैन साहित्य का इतिहास" में खभात शिलालेख को देखकर यशकीर्ति—सहस्रकीर्ति की कीर्तिशाखा और हुम्वड ज्ञाति को देखकर इस ग्रथकर्ता को १४ वी शती का दिगम्बर कल्पित किया है।

३—मुनि—विद्याविजयजी ने नेमिदूतपद्यानुवाद की प्रस्तावना में उसे १२ वी शती के कर्णावती के मंत्री सांगण का पुत्र कहा है।

किन्तु मेरे प्राप्त साधनो द्वारा ये तीनो मत ठीक नही प्रतीत होते हैं। अत विद्वानो के विचारार्थ में अपना मत सक्षेप में यहाँ देता हू। अपने पूज्य गुरुदेव श्रीजिनमणिसागरसूरिजी म० के साथ भ्रमण करते हुए मुझे मूल काव्य की २ प्रतिया प्राप्त हुई, जिनमे से-कि एक तो१५१६ की लिखित हैं और दूसरी सोलहवी सदी की। और एक प्रति अजमेर मे ढड्ढाजी के सग्रह में देखने को प्राप्त हुई। यह १४७२ की लिखी हुई है। जब मूल की ३ तीनो प्रतिया १५ और १६ वी सदी लिखित प्राप्त हैं, तब काव्यकर्ता १७ वी सदी में कवि ऋषभदास का भाई कैसे हो सकता है ?

दूसरे, खरतरगच्छालंकार युगप्रधानचार्य गुर्वावलि (जो कि १४ वीं शती उत्तरार्द्ध की रचना है) मे जिनपतिसूरिजी के शिष्य श्री जिनेश्वरसूरिजी ने स० १२८५ से १३३० तक लगभग १२-१५ शिष्य कीर्तिनंदी के दीक्षित किये थे जिनमें यशकीर्ति का उल्लेख प्राप्त है। इस के

अतिरिक्त एक वात और है कि इसी गुर्वावलिमें स० १३२६ श्रीजिनेश्वरसूरिजी की अध्यक्षता में जो यात्रार्थ सघ निकला था वह क्रमश यात्रा करता हुआ खभात पहुंचा था। वहा मदिरजी मे पूजा–माला की वोलियें हुई थी, उसमे सागण सुतने द्र० ८ में **चमर धारक** पद धारण किया था। *

तीसरे, जिख हुम्बड ज्ञाति को देखकर कवि को दिगवर वतलाया गया है वह हुम्वड जाति श्वेताम्वरो मे भी होती है। और आज भी मालवदेश-स्थ प्रतापगढ में लगभग ७५ घर हुम्वड ज्ञाति के है, वे सब श्वेताम्वर ही हैं। और पूर्व भी १२वी शती के युगप्रधान दादा पदधारक श्रीजिनदत्तसूरिजी म० भी श्वेताम्वर हुम्वड ज्ञाति के ही थे।

चौथे, जो प्रथम प्रति स० १४७२ की लिखी है, केवल उसी में **मन्त्री** विक्रम ऐसा शव्द सूचित कियाहै, जोकि मेरे विचार में **मणिधारी जिनचंद्र-सूरि** प्रतिवोधित मत्रिदलीय ज्ञाति होनी चाहिये, क्योकि मत्रिदलीय ऋद्धि-मन्त श्रेष्ठियो का **'मंत्रि'** विशेषण रहा करता था। अतएव इनका भी मन्त्रि-दलीय होने के कारण मन्त्रि विशेषण रहा होगा।

इस प्रकार हम देखते-हैं कि कवि विक्रम न तो ऋषभदास के भाई थे, और न हुम्बड ज्ञातीय दिगम्वर ही थे, एव न उनके गुरू ही दिगम्वर थे, किन्तु खभात के रहने वाले १४वी शती के श्वेताम्वर एव खतरगच्छा-धीश श्री जिनेश्वरसूरि के भक्त श्रावक थे। अस्तु

मुनि श्री विद्याविजयजी म ने जिस आधार पर कवि को १२वी सदी का कर्णवती का मन्त्री लिखा है, इसका समाधान करने की आवश्यकता नही, क्योकि उन्होने अपने मत को स्वय ही वदल दिया था।

इस कवि द्वारा रचित अन्य कोई भी साहित्य ग्रन्थ उपलब्ध नही है। किन्तु यही एक काव्य उनकी कीर्तिध्वज रक्षित करने के लिए पर्याप्त हैं।

इस काव्य पर उ **गुणविनय** गणिजी की वृत्ति के अतिरिक्त कोई भी वृत्ति प्राप्त नही है। केवल गणिजी ने इस काव्य की १४ श्लोक की टीका में

---

* श्रीस्तम्भनक महातीर्थे द्र० ८ प्रतीहारपद सांगणपुत्रेण।

'इत्यवचूर्णो' ऐसा शब्द सूचित किया है, जिससे स्पष्ट है कि उस समय एक अवचूर्णि अवश्य उपलब्ध थी। वह किन्ही भण्डारो में दीमक का ग्रास बन गई होगी या नष्ट हो गई होगी।

टीकाकार गुणविनय का परिचय श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा लिखित प्रस्तावना में दिया जा रहा है।

नेमिदूत पद्यानुवाद के कर्त्ता श्री मन्महारावजी श्री हिम्मतसिंहजी 'साहित्यरंजन' मेवाड के अन्तर्गत चम्बल नदी के तट पर स्थित भैंसरोड़गढ़ के ठाकुर हैं। एव इतिहास प्रसिद्ध चूड़ावत वश के हैं। हिन्दी साहित्य के अच्छे सुयश स्याता कवि हैं। आपने खडी बोली मे प्रसिद्ध तीन काव्य रचे हैं। जिनके नाम—

१-महिषासुरवध, २-शनिश्चर कथा, ३-नेमिदूत पद्यानुवाद।

आप दयालु सहृदय, प्रेमी और मत-मतान्तरो के सम्बन्ध में समभाव को धारण करने वाले हैं। आपने मुझे पद्यानुवाद इसी-ग्रन्थ के साथ प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की, इसलिए मैं आपका विशेष रूप से आभारी हू और हृदय से चाहता हू कि और भी वे खडी बोली में काव्य रचना करके साहित्य की उन्नति करे।

प्रति परिचय—

नेमिदूत मूल और टीका के सशोधन में मैंने निम्नलिखित प्रतियो से सहायता ली उसका वर्णन निम्नप्रकार है—

१—यह मूल काव्य की प्रति अजमेरस्थ ढड्ढाजी के सग्रह की है। उसकी प्रतिलिपि (मेरे द्वारा लिखित) मेरे सग्रह मे है। उस प्रति के ६ पत्र हैं, उसकी प्रशस्ति इस प्रकार हैं-

"इति मन्त्रिविक्रमविरचितं नेमिदूताभिधानं काव्यं समाप्तं। यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया। यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयताम्॥ सं० १४७२ वर्षे श्रावण शुक्ल ६॥ श्री॥"

२—यह मूल काव्य की प्रति मेरे सग्रह की है। इसमें कुल ७पत्र हैं, प्रत्येक में १५-१५ पक्तिया हैं, एव प्रत्येक पक्ति में ५०-५० अक्षर हैं। उसके अत में लिखा है —

इति मेघदूतांत्यपादसमस्याविरचितं नेमिदूताभिधं काव्यं समाप्तम् । संवत् १५१६ वर्षे फाल्गुन–शुदि–दशमीदिने स्वपरश्रमणोपकाराय पं० महीकलशगणिशिष्येण लिखितं ।

(भिन्नाक्षरों में) ॥ संवत् १७०६ वर्षे भाद्रपदासितपञ्चम्यां श्रीविजयसिंहसूरिभिस्समर्पिता गुणविजयाख्यस्य, श्रीपत्तने प्रतिरियं ॥ शुभंभवतु ॥

३—यह मूल काव्य की प्रति भी मेरे सग्रह की है। लेखन सवत लिखा हुआ नही है किन्तु १६वी सदी के उत्तरार्द्ध की प्रतीत होती है। पत्र ६ हैं।

मूल की इन तीनो प्रतियो में न १-२ तो बहुत ही शुद्ध लिखित हैं, किन्तु ३ में अशुद्धियो का वाहुल्य है। अत सशोधन में न० १-२ का ही सहयोग विशेष है। इनमे मूल का पाठ भी टीकाकार के मत से एव न १ के अनुसार ही रक्खा गया है।

४—यह टीका की प्रति अगरचन्द नाहटा द्वारा प्रेपित साहित्य प्रेमी श्रीयुत मोतीचन्द्रजी खजान्ची (वीकानेर) के सग्रह की है। इसमें भी लेखनसवत् नही लिखा है। टीकाकार उ गुणविनय गणि (स्वयमेव) लिखित ही है। पत्र २ से १२ हैं, प्रथम पत्र नष्ट हो गया। प्रत्येक पत्र मे २०—२० पक्तिया, एव प्रत्येक पक्ति में ५० से ६७ अक्षर तक दृष्टिगोचर होते हैं।

५—यह टीका की प्रति भी नाहटाजी द्वारा प्रेपित यतिवर्य्य महोपाध्याय रामलालजी बीकानेर के सग्रह की है। पत्र २५ हैं। प्रत्येक पत्र में १८पक्तियाँ, एव प्रत्येक पक्ति में ५२अक्षरहैं। लेखन पुष्पिका इस प्रकार है-

सवत १९५३ आश्विनमासे शुक्ल पक्षे तिथौ नवम्या गुरुवासरे प्रथम-यामे लिखित धनरूपसागरेण। श्रीजिन प्रसादात्। शुभम् ।।श्रीपालिमध्ये।।

टीका की दोनो प्रतियो में न ४ वाली स्वयलिखित होने के कारण स्वयं ही शुद्ध है। इसीलिए इसी पर से सशोधन किया गया है और कहीं पर न ५ से सहायता भी ली गई है। न ५ की टीका वाली प्रति न तो अत्यन्त शुद्ध ही लिखित है, और न अत्यन्त अशुद्ध ही है। मध्यम है।

मूल की तीनो प्रतियो एव टीका की दोनो प्रतियो के पाठान्तर नोट किए थे, किन्तु प्रेस में सामग्री के अभाव के कारण प्रस्तुत न कर सका।

आभार प्रदर्शन

इस काव्य के सशोधन कार्य में मेरे गुरुभ्राता मुनि गुणचन्द्रजी ने और वेदान्ताचार्य प गोवर्धनजी शर्मा शास्त्री ने सहयोग प्रदान किया। श्रीयुत अगरचन्द जी नाहटा ने मेरे कथन को स्वीकार कर टीका की दोनो प्रतियाँ भेजी एव प्रस्तावना लिखी। डा फतहसिहजी एम. ए, बी टी, डी लिट्, प्रोफेसर कोटा वालो ने मेरे आग्रह को स्वीकारकर प्रस्तावना लिखकर भेजी और गणिवर्य्य श्रीमन्बुद्धिमुनिजी म ने शुद्धिपत्र लिखकर भेजा। एतदर्थ मैं इन विद्वानो का अत्यन्त ही आभारी हू और आशा करता हू कि भविष्य में भी मुझे साहित्य के कार्य में सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

प्रूफ सशोधन यथाशक्ति सावधानी से किया गया है, फिरभी दृष्टिदोष से एव प्रेस की असावधानी से जो अशुद्धिया रह गई हैं, उनको विद्वज्जन सुधार कर पढने की कृपा करें। इत्यलम्—

चै शु चन्द्रे २००४ — सम्पादक

केकड़ी

नेमिदूत का काव्यत्व

नेमिदूत की वस्तु जैनियों के बाईसवे तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ के जीवन से ली गयी है। द्वारिका के यदुवंशी राजा समुद्रविजय श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भाई थे। इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र श्री नेमिनाथजी बचपन से ही विषयपराङ्मुख थे। जब श्री कृष्ण ने आपका विवाह राजा उग्रसेन की पुत्री राजमती से करना निश्चित कर लिया, तो आपने उनके आदेश को न टाला और बरात में जाना स्वीकार कर लिया। परन्तु, जब बरात पहुंचती है और श्री नेमिनाथ जी देखते हैं कि एक बाड़े के भीतर बहुत से निरीह पशु बरातियों के भोजनार्थ एकत्र किये गये हैं, तो उनका करुणार्द्र हृदय द्रवित हो जाता है और वे रक्त-रञ्जित भोगों को सदा के लिये छोड़कर गिरिनार पर्वत पर योगाभ्यास और तपश्चर्या में लग जाते हैं। इस पवित्र प्रयत्न से उन्हें कोई न डिगा सका—न बन्धु बांधवों का मोह, न त्रैलोक्यसुंदरी राजीमती का रूप और न पिता का आदेश, क्योंकि निरीह प्राणियों की वधकालीन कातर वाणी की कल्पनामात्र से जो करुणा उनके हृदय में उमड़ी, उसके सामने ये सब बन्धन तुच्छ थे।

श्री नेमिनाथ के परित्याग करने पर भी राजीमती भला उन्हें कब छोड़ने वाली थी, वह तो उनको अपने मनमंदिर मे पति रूप में स्थापित कर चुकी थी। अतः उस विरह-विधुरा ने अपने देव को पुन. प्राप्त करने के कई प्रयत्न किये—वृद्ध ब्राह्मण को उनका कुशल समाचार लेने श्रीनेमि की तपोभूमि को भेजा (१०७) और

फिर पिता की आज्ञा लेकर स्वयं वहां एक सखी के साथ पहुंच कर अनुनय-विनय करती हुई अपने विरह-दग्ध हृदय की भावनाओं को एक प्रलाप-रूप में व्यक्त करने लगी, (२-७८) उसके इस प्रयत्न को असफल देखकर सखी ने राजमती के पति-प्रेम, विरह-व्यथा, स्वप्न-प्रलाप आदि का वर्णन (८८-१२३) करते हुये श्री नेमि से कहा:—

राजीमत्या सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो,
मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युताविप्रयोगः ।

"जैसे वर्षा ऋतु में नवघन से चपला का वियोग नहीं होता, उसी प्रकार राजमती से तुम्हारा अब क्षण भर के लिये भी पुनः वियोग न हो ।"

सखी सहित राजमती के इन प्रयत्नों का वर्णन ही प्रस्तुत काव्य का विषय है ।

नामकरण

इस काव्य के नाम को देखकर ऐसा लगता है कि इसमें श्री नेमि ने दूत का काम किया होगा अथवा उन्होंने कोई दूत बनाया होगा, परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है । श्री प्रेमीजी लिखते हैं— "यह मेघदूत के ढंग का काव्य है और मेघदूत के ही चरण लेकर इसकी रचना की गई है । शायद इसीलिये इसे नेमिदूत नाम मिल गया है न इसमें नेमिनाथ दूत बनाये गये हैं और न उनके लिये कोई दूसरा दूत बनाया गया है ।" यद्यपि यह बात सही है, फिर भी यह बात विचारणीय है कि 'मेघदूत' में जो दूत-कर्म मेघ-द्वारा संपादित हुआ है, लगभग वही अथवा वैसा ही कर्म यहां राजमती तथा उसकी सखी के द्वारा कराया गया है । परन्तु, इन दोनों के कथनों में यदि दौत्य देखा जाय, तो यही कहना पड़ेगा

कि यह सारा ही राजमती के लिये है और इसीलिए प्रेमीजी के शब्दों में, "इस काव्य का 'राजमती-विप्रलम्भ' या 'राजमती-विलाप अथवा ऐसा ही और कोई नाम अन्वर्थक होता; परन्तु अन्तिम श्लोकों से इसमें नेमिनाथ को प्रधानता प्राप्त हो गई है"

मेरी समझ में नेमिनाथ की इस प्रधानता में काव्य के नाम-करण का रहस्य छिपा है। उन्होंने उस पर्वत पर स्वयं 'केवल ज्ञान' प्राप्त किया और राजमती से सांसारिक भोगों को छुड़वाकर उसे शिवपुरी में 'अभिमतसुख शाश्वत आनन्द' का भोग करवाया:—

श्रीमान् योगादचलशिखरे केवलज्ञानमस्मिन्,
नेमिर्देवोरगनरगणैः स्तूयमानोऽधिगम्य ।
तामानन्दं शिवपुरि परित्यज्य संसारभाजां,
भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥१२५॥

इससे स्पष्ट है कि राजमती और उसकी सखी के कथनों का परिणाम यह हुआ कि श्रीनेमि ने राजमती को अपने पथ—आनन्दोन्मुख निवृत्ति-मार्ग—का पथिक बनाया। और राजमती आई भी किसलिये थी? सचमुच उसे ऐहिक सुख की चाह न थी, यदि ऐसा होता तब तो वह उस वैभव को छोड़कर अपने शरीर को दुःखसागर में न डुबाती जैसा कि उसकी सखी के वचनों से प्रकट है। वह जानती है कि जन्म-जन्मान्तर के कर्म किस प्रकार बन्धन में डालते हैं, अतः वह चाहती है कि उसे श्रीनेमि के संयोग से 'चिर-सुख' शाश्वत आनन्द मिलेः—

दुःखं येनानवधि बुभुजे त्वद्वियोगादिदानीं,
संयोगात्तेऽनुभवतु सुखं तद्वदुर्मे चिराय ।
यस्माज्जन्मान्तरविरचितैः कर्मभिः प्राणभाजां,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥११७॥

अत स्पष्ट है कि उक्त दौत्य का जो परिणाम था, वही उद्देश्य भी था, राजमती के कथन मे जो सांसारिक सुखों की ओर श्रीनेमि को ले जाने का प्रयत्न है; वह केवल विरहिणी का प्रलाप है, वास्तविक उद्देश्य तो सचेत सखी ही कह सकती थी।

इस विवेचन को ध्यान मे रख कर, क्या यह नही कहा जा सकता कि उक्त दौत्य कर्म मे श्रीनेमि के ही उद्देश्य की पूर्ति थी और उन्होंने राजमती को पत्नी रूप मे ग्रहण न करने पर भी आनन्द पथ की संगिनी के रूप मे ग्रहण करना निश्चित कर लिया था जिसके लिये ही 'अदृष्ट' शक्तिया राजमती को तैयार करके लाई थीं—नेमिनाथ के दूतों ने इस प्रकार अदृश्य रूप मे उनका संदेश राजमती तक पहुंचाया था। सचमुच यह विचित्र दूतकर्म था, पर था अवश्य। अत. श्री प्रेमी जी का यह कथन ठीक है कि इसका 'नेमिचरित' नाम बहुत सोच समझ कर रक्खा गया है।"

नेमिदूत और मेघदूत

जैसा कि नेमिदूत के अन्तिम पद से प्रकट है, नेमिदूत की रचना समस्या-पूर्ति के ढग पर हुई, जिसमें मेघदूत के प्रत्येक पद के अन्तिम चरण को एक समस्या माना गया है —

सद्भूतार्थप्रवरकविना कालिदासेन काव्या-
दन्त्यं पाद सुपदरचितान् मेघदूताद् गृहीत्वा ।
श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा,
चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः ॥१२६॥

इस प्रकार नेमिदूत मे मेघदूत के १२५ पदों का उपयोग किया गया है, परन्तु मेघदूत की जो पद सख्या मिली है, उसमे मुख्य मुख्य निम्नलिखित है—

जिनदास	(८ वीं या ६ वीं शताब्दी)	१२० पद
वल्लभ	(१२ वीं ,,)	१११ ,,
दक्षिणावर्तनाथ	(१३ वीं ,,)	११० ,,
मल्लिनाथ	(१५ वीं ,,)	१२१ ,,
स्थिरदेव	(१२ वीं ,,)	११२ ,,

इसमे से मल्लिनाथी सस्करण मे पदों की संख्या सब से अधिक (१२१) है, परन्तु इनके आगे अन्त में पांच पद और पाये जाते हैं. जिनको प्रक्षिप्त समझा जाता है और जिन पर मल्लिनाथ की टीका नही मिलती। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि इन्ही अन्तिम पाचों में वे दो पद भी हैं, जिनके चरणों को लेकर नेमिदूत के १२३ वें और १२५ वें पदों की रचना हुई है और नेमिदूत को नेमिदूतत्व प्राप्त हुआ है। वास्तव में इन दोनों को प्रक्षिप्त मान लेने पर काव्य अधूरा रह जाता है, जैसा कि इन दोनों❀ के अन्तिम चरणों से प्रकट है, इन्ही दो मे वियोग संयोग में और दुःख सुख में परिवर्तित होकर 'अभिमत फल' की प्राप्ति कराता है। इनके विना विरह–व्यथा शान्त नहीं होती और काव्य दुःखान्त ही रह जाता है, जो चाहे वर्तमान समालोचकों को रुचिकर भले ही हो, परन्तु भारतीय–परंपरा के विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि अन्यत्र × प्रतिपादित किया जा चुका है, भारतीय प्रवन्ध–काव्यों में लौकिक और पारलौकिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक का समन्वय कराने की प्रथा चली आ

❀ इन दोनो के अन्तिम चरण ये है —

(१) केषा न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥

(२) भोगानिष्टानभिमतसुख भोजयामास शश्वत् ॥

× देखिये लेखककृत "कामायनी सौन्दर्य्य"

रही है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मेघदूत पर लिखते हुये लिखा है—
"इसमें से प्रत्येक निर्जन गिरिशृंग पर अकेला खड़ा होकर उत्तर की ओर देख रहा है। बीच में आकाश, मेघ और सुन्दरी पृथ्वी के सुख-सौन्दर्य्य-भोग-ऐश्वर्य की चित्रलेखा के स्वरूप, रेवा, सिप्रा, अवन्ती, उज्जयिनी वर्त्तमान हैं। ये सब मन में स्मृति जगा देते हैं, पर पास में पहुंचने नहीं देते; आकांक्षा का उद्रेक करते है पर उनकी निवृत्ति नहीं करते। दो मनुष्यों के बीच मे इतना अन्तर ?

"किन्तु यह बात मन में उठती है कि किसी समय हम लोग एक ही मानस लोक मे थे, पर अब वहाँ से निर्वासित हो गये हैं। इसी से एक कवि ने गाया है—

"हृदय-पटल से बरबस बाहर किया तुम्हें अब किसने रे।"

केवल यही नहीं। वैदिक परम्परा के अनुसार अनेक पर्व (संयोजक अंग) होने से पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड पर्ववान या पर्वत कहलाता है, रमणीय (भोग्य) होने से इसे 'रामपर्वत' कह सकते हैं। यही "अष्टचक्र, नवद्वारा देवपुरी अयोध्या" को यक्ष (जीव) मानों निर्वासित हुआ सा रहता है। है तो वह अकेला ही, परन्तु उसमें पंचकोष, तीनपुर, दशइन्द्रिय-स्थान आदि अनेक आश्रम (आश्रय स्थान) हैं जिनमें वह निवास करता है—स्निग्धच्छाया तरुपु वसतिं चक्रे रामगिर्याश्रमेषु। यों तो वह भोगों मे फंसा हुआ अपनी दूरस्थ प्रिया को भूला रहता है, परन्तु ग्रीष्म (शम, दम, संयम आदि तपस्या) में तपने के पश्चात् जब आषाढ (सदाचार) के प्रथम दिवस (प्रमुख दीप्ति) पर मेघ (मन) आश्लिष्टसानु (उन्नत) होता है, तब 'प्रिया' की विशेष याद आती है और उसकी ओर मेघ (मन) दूत जाता है। इसके मार्ग में 'अन्नरसमय' से लेकर 'मनोमय' जगत् तक के अनेक भोग पड़ते हैं, इन्हीं का वर्णन 'पूर्वमेघ' में नदियों, नगरों आदि के प्रतीकों द्वारा किया गया है। 'मनोमय' जगत् पार करके 'विज्ञानमय' जगत् आता है,

यही 'उत्तरमेघ' की अमरावती है, जहां योगी को 'सोऽहं' की अनुभूति होती है:—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः

इस रूपक की वास्तविक पूर्ति तभी होती है, जब यक्ष अपनी प्रिया से मिल जाता है, जब 'सोऽहं की अनुभूति प्राप्त हो जाती है। इसीलिये अन्तिम दो पदों मे दोनों का मिलन दिखा दिया गया है। संभवत दो पदों में कथा एक दम शीघ्रता से समाप्त होने तथा इतना सहसा मिलन होने के लिये आलोचक के तैयार न होने से वे उसे प्रक्षिप्त मानते हैं। ऐसे लोगों को भारतीय साहित्य की विशेषता— विशेष रवीन्द्र बाबू के निम्न लिखित शब्द याद रखने चाहिये—महाभारत में यही बात है। स्वर्गारोहण पर्व मे ही कुरुक्षेत्र के युद्ध को स्वर्ग लाभ होगया। कथाप्रिय व्यक्तियों को जहां कथा-समाप्ति रुचिकर होती, वहाँ महाभारतकार नहीं रुके, इतनी बड़ी कहानी को धूल के बने घर की भांति वे एक क्षण मे छिन्न-भिन्न कर आगे बढ़ गये। जो संसार से विरागी हैं और कथा-कहानियों को उदासीन भाव से देखते हैं, उन्होंने ही इसके भीतर से सत्य का भी अनुसंधान किया, वे क्षुब्ध नहीं हुये।" बिलकुल यही बात मेघदूत के लिये कही जा सकती है।

यही कारण है कि जैन मनीषियों और महात्माओं ने मेघदूत के लेखक कालिदास को 'सद्भूतार्थप्रवर कवि' माना है और उसके अनुकरण पर जैन मेघदूत, नेमिदूत, शीलदूत, पार्श्वाभ्युदय आदि ग्रन्थ लिखकर न केवल सदाचार और संयम का आदर्श स्थापित किया अपितु परमार्थ-तत्त्व का भी निरूपण कर दिखाया और साथ ही काव्य की भाषा मे रखने से उसे सरसता भी प्रदान की। उक्त अन्तिम दो पदों की टीकाकारो द्वारा उपेक्षा होने का कारण केवल यही हो सकता है कि वे कवित्व की दृष्टि से उत्तम नहीं, केवल कथा उनमे द्रुतगति से छलांग मारती है। इसी कारण संभवतः ये

दोनों पद एक दृष्टि से आवश्यक होते हुये भी प्रायः भुला दिये गये और कालान्तर मे यदा-कदा उपलब्ध होने से प्रक्षिप्त माने जाने लगे।

नेमिदूत में अध्यात्म

नेमिदूत के ऐतिहासिक कथानक को भी आध्यात्मिक तत्त्व—निरुपण का माध्यम बनाया गया है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु मेघदूत और नेमिदूत मे पर्याप्त अन्तर है; जहाँ मेघदूत का यक्ष अमरावती (स्वर्ग) मे स्थित निज पत्नी के लिये व्याकुल है, वहाँ नेमिदूत का नायक सारे भोगों को छोड़कर योगासक्त हो स्वयं 'केवल ज्ञान' प्राप्त करता है और अपनी शरण मे आई हुई राजमती को भी 'शाश्वत् आनन्द' की प्राप्ति करवाता है। जैन-धर्म के अनुसार तीर्थङ्कर में मानवता का वह आदर्श है, जिसे भगवत्तत्व कह सकते हैं और जो साधक के लिये एक मात्र साध्य है। अतः जब साधक (राजमती) नेमिनाथ के पास जाता है, तो वे पर्वत (पिण्ड के आध्यात्मिक जगत्) के उच्चतम शिखर (आनन्दमय कोश के उच्चतम स्तर) पर आसीन दिखाई पड़ते हैं, न कि मेघदूत के यक्ष की भांति केवल विभिन्न आश्रमों में वसते हुये:—

सा तत्रोच्चैः शिखरिणि समासीनमेनं मुनीशं,
नासान्यस्तानिमिषनयनं ध्याननिद्धं तदोषम् ।
योगासक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री,
वप्रक्रीडापरिणतगज-प्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

ऐसे महान् साध्य को प्राप्त करना सरल नहीं, उसके लिए अगाध-भक्ति की आवश्यकता है, जिसमें मान-मर्यादा, सुख-दुख आदि किसी की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि—

भक्ति का मारग झीना रे।
नही अचाह नही चाहत चरनन लौं लीना रे।
साधन के रस-धार मे, रहे निश-दिन भीना रे।
राग मे स्रुत ऐसे बने, जैसे जल मीना रे।
साई सेवन में देत सिर, कुछ विलम न कीना रे।
कहै कबीर मत भक्ति का, परगट कर दीना रे।

अत. नेमिदूत में राजमती की विरह-व्यथा मे साधक की तपस्या का रूपक समझना चाहिए। भक्त तो अपने लौकिक 'पत्रं-पुष्पं' को ही बहुत कुछ मानता है, अत वह भगवान के सामने उन्हीं को भोग्य रूप मे रखता है; राजमती द्वारिका आदि नगरियों, स्वर्णरेखा आदि नदियों तथा गंधमादन आदि पर्वतों के प्रतीकों द्वारा इन्हीं की ओर संकेत करती हैं, परन्तु 'शमसुखरतं' भगवान् द्वारा उन सबके ठुकराये जाने पर, वह अन्त में सब प्रयत्न छोड़कर पूर्ण आत्मसमर्पण करके एकमात्र भगवत्कृपा की अभिलाषिणी रह जाती है —

धर्मज्ञस्त्वं यदि सहचरीमेकचित्तां च रक्तां,
किं मामेवं विरहशिखिनोपेक्ष्यसे दह्यमानाम्।
तत्स्वीकारात्कुरु मयि कृपां यादवाधीश बाला,
त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥११०॥

नेमिदूत में रस

इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में नेमिदूत का शृङ्गार अत्यन्त उदात्त और उत्कृष्ट हो जाता है। राजमती के विप्रलंभ का जन्म विवाहोपरान्त संभोग की आशा, अभिलाषा और संभावना के

विनाश से होता है, परन्तु इस वियोग की परिणति, सुखान्त होते हुए भी, साधारण शृङ्गारात्मक सभोग में न होकर शान्तरस में होती है, नायक-नायिका का मिलन शारीरिक भोगों के लिये नहीं, मोक्षसौख्य की प्राप्ति के लिये होता है —

चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्यप्राप्तिहेतोः ।

भारतीय आदर्श के अनुसार सभोग साध्य नहीं है, वह तो एक प्रकार से तप्रेमय जीवन का पर्य्यायवाची बनकर अन्ततोगत्वा मुक्ति का साधन होना चाहिये। इसीलिये रामायण और महाभारत का रतिभाव अयोध्या के वैभव-पूर्ण वातावरण को छोडकर वन के कंटकों मे, अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा विक्रमोर्वशी का वियोग के श्वासोच्छ्वास मे, बुद्धचरित एवं भर्तृहरि शतक का वैराग्य मे और मीरा तथा गोपियों का भक्तिप्रवणता मे पनपता हुआ शमभाव सें परिणत होने की क्षमता प्राप्त करना चाहता है। रति-भाव की अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य में तीन प्रकार से हुई है—(१) सभोग को ही साध्य मानकर जैसे दुष्यन्त-शकुन्तला मे (२) चिरन्तन प्रेम को ही साध्य मानकर, जैसे गोपियों और मीरा मे तथा (३) वैराग्य-बुद्धि या कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर, जैसे बुद्ध-चरित एवं कुमारसंभव मे। पहले प्रकार मे प्रेमी प्रेमान्ध होकर चलता है और ठोकर खाकर सँभलता है। दूसरे मे प्रेम का प्यासा प्रेमी समझता है कि—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का, और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागृत गति है, और सुषुप्ति मिलन है॥

अतः वह चिरवियोग में ही मग्न रहता है। इस प्रकार की प्रेमाभिव्यक्ति लौकिक जीवन के लिये घातक है, अतएव इसका चित्रण केवल भक्त के जीवन में ही ठीक समझा गया है, क्योंकि अंत में उसका

परिणति भगवत्साक्षात्कार में होकर सुखान्त हो जाती है तीसरे प्रकार में प्रेमी भोग-बुद्धि की निस्सारता समझकर केवल कर्तव्य-भाव से संभोग में प्रवृत होकर निष्काम-भाव से कर्म करता हुआ मुक्ति की ओर अग्रसर होता जाता है अथवा विरक्त रहता हुआ अपने प्रेमी को शाश्वत सुख का आस्वादन कराता है।

नेमिदूत का शृंगार अन्तिम प्रकार का है। कुमारसंभव की भांति यहां भी नायक एक पर्वत-शिखर पर योगासक्त होकर बैठा है और नायिका अभिलाषा-हेतुक वियोग से व्यथित होकर उसके सामने खड़ी याचना कर रही है—वह इह-लोक के सौन्दर्य, ऐश्वर्य तथा आकर्षण का वर्णन करती है, नायक को कर्तव्यों का ध्यान दिलाती और यथासंभव उसमें संभोग—प्रवृत्ति जगाने का प्रयत्न करती है, परन्तु अंत में पार्वती के समान सारे वैभव, विलास और सौन्दर्य का तिरस्कार सा करती हुई सखी-मुख से अपने पवित्र-प्रेम तथा अनन्य-साधन से युक्त प्रवास-हेतुक विप्रलंभ का सजीव वर्णन करवाती है, जिसमें राजमती की अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, कृशता, व्याकुलता आदि के साथ-साथ उसके उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, स्वप्न आदि दशाओं का अच्छा चित्रण किया गया है। पार्वती के समान राजमती की माता भी उसे समझाती-बुझाती है, परन्तु इससे उसकी व्यथा कम नहीं होती :—

> मातुः शिक्षा शतमलमवज्ञाय दुख सखीना—
> मन्तश्चित्तेष्वजनयदियं पाणिपंकेरुहाणि।
> हस्ताभ्यां प्राक् सपदि रुदति रुन्धती कोमलाभ्यां
> मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबला वेणिमोचोत्सुकानि ॥१०६॥

स्वप्न में कभी-कभी प्रिय-मिलन हो जाता है; बात करने की इच्छा से मुँह खोलती, परन्तु हाय! क्रूर कृतान्त को इतना भी सह्य नहीं है।

रात्रौ निद्रां कथमपि चिरात् प्राप्य याद्वसन्त,
लब्ध्वा स्वप्ने प्रणयवचनैः किंचिदिच्छामि वक्तुम् ।
तावत्तस्या भवति दुरितैं प्राक्कृतैर्मे विरामः,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥११३॥

ऐसी अवस्था भी क्यों न हो ? काम-देव का उसपर कोप भी बहुत है, परन्तु इसका कारण वह स्वयं नहीं। जब वह श्री नेमि के तप को प्रलोभनों से भंग न कर सका, तब उसने अपना बदला बेचारी 'अबला' से लिया, ठीक है बेचारी पार्वती को भी तो यही सहना पड़ा था —

असह्यहुंकार-निवर्तितः पुरा
पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
इमां हृदि व्यायत पातमक्षिणो
द्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ।

इस प्रकार की व्यथा और वेदना सुनकर 'प्राणि-त्राण-प्रवण-हृदय' श्री नेमिनाथ भला कैसे न पसीजते। उनका हृदय दया से द्रवीभूत होगया, परन्तु अर्थकाम परायण होने के लिये नहीं, अपितु धर्ममोक्ष के विस्तार के लिए, स्वयं नीचे गिरने के लिये नहीं राजमती कोअपने स्तर पर लाने के लिये —

तत्सख्योक्ते वचसि सदय-
स्तां सतीमेकचित्तां,
संबोध्येशः सभवविरतो
रम्य-धर्मोपदेशैः ।

अतः नेमिदूत में जो रस-विस्तार पाया जाता है, वह रीतिकालीन शृंगारियों तथा अर्थकाम परायण प्रगतिवादियों की आँख खोलने वाला होना चाहिये। भारतीय साहित्य में जिस शृंगार की महिमा है, वह ऐसे की ही, न कि इंद्रियलोलुपता बढ़ाने वाले विलासप्रधान शृंगार की। धर्म-मोक्ष की ओर जाने वाला ही शृंगार व्यक्ति के चरित्र को उदात्त बना सकता है, और मानव-व्यवहार में "रसो वै सः" को उतार कर मनुष्य-जीवन को सुन्दर, सत्य और शिव बनाता है। क्या हमारे साहित्य में शृंगार के इस आदर्श की पुनः स्थापना हो सकेगी ?

फतहसिंह,

एम ए., डी लिट.

प्रस्तावना

—:❀:—
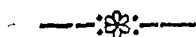
भारतीय कवियो में महाकवि कालिदास सिरमौर हैं। उनकी सुललित रचनाओ ने परवर्ती अनेक कवियो को प्रेरणा देकर काव्य-निर्माण में अग्रसर किया। उनके काव्य में भी मेघदूत सबसे छोटा होने पर भी काव्य चमत्कृति में विलक्षण है। इसमे मेघ को दूत बनाकर महाकवि ने नायक का सवाद नायिका को प्रेषण कर अपनी अनोखी सूझ का परिचय दिया है। इस काव्य से प्रभावित होकर विभिन्न कवियो ने ६०-७० दूत काव्यो का सृजन किया है * एव कई सुकवियो ने तो इसी काव्य के अन्तिम एव समग्र चरण लेकर पादपूर्ति काव्यो की सृष्टि की है, जिनका परिचय आगे दिया जायगा। प्रस्तुत नेमिदूत भी उन्ही मे से एक हैं।

जैसा कि मैने इसी ग्रन्थमाला से प्रकाशित "भावारिवारण पादपूर्त्यादि स्तोत्रसग्रह" की प्रस्तावना में बतलाया है कि पादपूर्ति काव्यो के निर्माण का प्रारभ ही कविकालिदास के मेघदूत के समग्रचरण पादपूर्तिरूप 'पार्श्वाभ्युदय'×काव्य से हुई है। इसके रचयिता दि० आचार्य जिनसेन हैं, जिनका समय ९ वी शती है, अत जैन कवियो ने उससे अधिक प्रेरणा ली, यह स्वाभाविक ही है। उपलब्ध पादपूर्ति-काव्य साहित्य में जैन कवियो की रचनाओ की प्रधानता××इसका ज्वलन्त प्रमाण है। मेघदूत

१—देखें—सस्कृत में दूत काव्य साहित्य का निकास और विकास (प्र जैन सिद्धान्त भारतवर्ष २. अ. २)। दूत काव्य सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बातें शीर्षक मेरा लेख वही भा. ३. कि. १.

२—दे० जैन साहित्य और इतिहास पृ. ५०४ से ९.

३—दे० मेरा "जैन पादपूर्ति काव्य साहित्य" शीर्षक" लेख. (प्र० वही भा. ३—कि० २—३

की पादपूर्ति रचनाओ को ही लीजिये। अभी तक ऐसी ९ रचनाओ का पता चला है जिनमें से सात जैन कवियो की हैं। पाठक की जानकारी के लिये यहाँ उनका सक्षिप्त परिचय दे दिया जाता है—

१–पार्श्वाभ्युदय—मेघदूत की समग्र पादपूर्तिरूप यह एक ही एव सर्व प्रथम काव्य है। आ जिनसेन ने ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तो में भ० पार्श्वनाथ का चरित्र सुन्दर ढग से गुंफित किया है। इसके प्रत्येक श्लोक में मेघदूत के एक या दो चरण वेष्टित कर शृगार रस के काव्य को वैराग्य-शान्तरस मे परिणत कर कवि ने अपूर्व असाधारण विद्वता का परिचय दिया है। पादपूर्ति-काव्य रचना में कवि के पराधीन होने से दुरूहता एव नीरसता का आ जाना स्वाभाविक सा है पर प्रस्तुत काव्य उसका अपवाद है। इसको पढकर पाठक मौलिक काव्य जैसा ही रसास्वादन कर आनन्द विभोर हो जाता है। सस्कृत काव्यो में अपने ढग का यह एक अद्वितीय काव्य है। प्रस्तुत काव्य व्याख्या सह प्रकाशित हो चुका है।

अब जिन काव्यो का परिचय दिया जा रहा है वे सभी अन्त्य पादपूर्तिरूप हैं।

२–नेमिदूत—प्रस्तुत ही है इसका परिचय आगे दिया जा रहा है।

३–शीलदूत—बृहत्तपागच्छीय चरित्रसुन्दर गणि ने स० १४८४ (७ ?) खभात में इसकी रचना की। इसमें आ. स्थूलिभद्र का चरित्र वर्णित है। यशोविजय ग्रन्थमाला से यह प्रकाशित हो चुका है। इसके १२५ श्लोको में मेघदूत के अन्त्यचरण सन्निवेशित हैं।

४–चन्द्रदूत—खरतरगच्छीय कवि विमलकीर्त्ति ने स० १६८१ में इसकी रचना की। इसमे १४१ श्लोक हैं। कवि ने चन्द्र को

शत्रुञ्जय जाकर नाभेय (ऋषभदेव) जिनको वन्दना निवेदन करके भेजा है। इसकी एकमात्र प्रति मेरे अभय जैन सग्रहालय मे है। प० माधव कृष्ण शर्मा-(क्यूरेटर-अनूप संस्कृत लायब्रेरी बीकानेर) द्वारा अड्यार (?) लायब्रेरी पत्रिका में इसके ३०-३५ श्लोक प्रकाशित किये हैं।

५-**मेघदूत समस्या लेख**-अठारहवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय मेघविजयजी की १३० श्लोकात्मक यह रचना है। कवि ने मेघ द्वारा औरगाबाद से गच्छादिपति विजयप्रभसूरि को दीवबन्दर को विज्ञप्ति प्रेषणरूप में इसकी रचना स० १७२७ मे की है। आत्मानन्द सभा भावनगर से यह काव्य प्रकाशित हो चुका है।

६-**चेतोदूत**-चित्त को दूत बनाकर गुरुश्री के पास विज्ञप्ति प्रेषणरूप में इसकी रचना हुई हैं। रचना बड़ी मधुर एव प्रासादिक है, पर कर्त्ता का नाम नहीं। इसकी पद्य सख्या १२९ है, एवं उपर्युक्त आत्मानन्द सभा से प्रकाशित है।

७-**हंसपादाङ्कदूत**-विद्वद्वर नाथूरामजी प्रेमी के विद्वद्रत्नमाला के पृष्ठ ४६ में इसका उल्लेख हैं। विशेष परिचय ज्ञात न हो सका

मेघदूत के जैनेतर पादपूर्ति काव्यद्वय इस प्रकार है—

-**सिद्धदूत**-अवधूतरामयोगी ने स० १४२३ के माघ वदि १४ रेवातस्थ भट्टपुर में यशस्वी मल्लदेव के राज्य में व्यास श्रीचांग देव के कौतुहलार्थ इसकी रचना की। इसमे कैलाशस्थ ब्रह्मविद्या के पास छाया पुरुष को दूत नियुक्त कर भेजा गया है। यह भी मेघदूत के चतुर्थ पाद के पूर्तिरूप १३८ श्लोको में है। श्रीहेमचन्द्राचार्य-ग्रन्थावली पाटन के तृतीय ग्रथाङ्क रूप से सन् १९२७ में प्रकाशित है।

९——हनूमत्दूत—जोधपुर के आशुकवि पं० नित्यानन्दजी शास्त्री ने कुछ वर्ष पूर्व ही इसकी रचना कर वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से हिन्दी पद्यानुवाद सह प्रकाशित करवाया है।

अब नेमिदूत काव्य का सक्षिप्त परिचय करवाया जा रहा है।

नेमिदूत काव्य और उसके रचयिता

बाइसवे तीर्थंकर बालब्रह्मचारी भ० नेमिनाथ विवाह के भोजनोपलक्ष में एकत्र पशुओं की करुणावश राजीमती से विवाह नहीं करते हुए तोरण से रथ फेर गिरनार पर जाकर प्रव्रजित हुये। स्नेहवश सती राजीमती ने उनके समीप जाकर वापिस लौटने की विशेषरूप से प्रार्थना की। पर भ० नेमिनाथ ने उसे अस्वीकार करते हुए वैराग्यमय सद्बोध देकर दीक्षित कर उनको अपनी चिरसंगिनी बना लिया। उसी प्रसग को लेकर कवि ने प्रस्तुत काव्य की रचना मेघदूत के अन्त्यचरण के पादपूर्तिरूप में १२६ श्लोको मे की है।

इस काव्य का नामकरण कवि ने नेमिदूत न कर नेमिचरित्त ही किया प्रतीत होता है, पर केवल मेघदूत की पादपूर्तिरूप होने से उसकी स्मृति-सूचक दूतकाव्य न होने पर भी शीलदूतादि की भांति इसकी प्रसिद्धि नेमिदूत के नाम से हो गई प्रतीत होती है। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से काव्य-माला द्वितीय गुच्छक में मूलमात्र से यह प्रकाशित भी हो चुका है, एव उदयलाल काशलीवाल का हिन्दी अनुवाद भी पूर्व प्रकाशित है, पर यहां यह गुणविनय की वृत्ति के साथ प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत वृत्ति की प्रति महो० रामलालजी के सग्रह में करीब १५ वर्ष पूर्व हमारे अवलोकन में आई थी, जिसका उल्लेख हमने अपने यु० जिनचन्द्रसूरि ग्रन्थ में किया था। इसकी प्रति अन्यत्र कही ज्ञात न होने से गतवर्ष हमने प० रामसागरजी मिश्र से इसकी प्रेसकॉपी तैयार करवाली थी, एव जैन सत्य प्रकाश के क्रमाक १२३ में इसका परिचय प्रकाशित करते हुए इसे 'जो प्रकाशित करना चाहे हमसे मगवाले', शब्दो द्वारा प्रकाशनकी प्रेरणा की

थी। तदनुसार प० अभयचदजी गाधी ने प्रकाशन का विचार व्यक्त किया था, पर वह न हो सकने से मुनि-विनयसागरजी की प्रेरणा से उन्हें भेज दी गई। इसके पश्चात् वृत्तिकार की स्वय लिखित प्रति कु० मोतीचन्दजी खजानची के सग्रह में होने का प० रामसागरजी से ज्ञात कर उन्हें वह प्रति भी भिजवादी। इस प्रति का प्रथम पत्र नहीं मिला, कुल पत्रों की सख्या १२ है। इस प्रति के मुख्य आधार से मुनि-विनयसागरजी इसे सम्पादित कर प्रकाशित कर रहे हैं। जिन रत्नकोष से अभी ज्ञात हुआ कि इसकी अन्य प्रति भी प्राप्त है।

नेमिदूत के रचयिता विक्रम कवि कब हुए किस वश व सम्प्रदाय के थे इत्यादि बातो को जानने के लिये कोई साधन उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से उनका परिचय केवल "सांगणसुत विक्रम" इतना ही मिलता है। बीकानेर स्टेट लाइब्रेरी एव हेमचन्द्रसूरि पुस्तकालय की प्रति में विक्रम के स्थान पर भांभन शब्द है पर अधिकाश एव प्राचीन प्रतियो में विक्रम शब्द ही पाया जाता हैं, एव टीकाकार ने भी यही दिया है अत ग्रन्थकर्त्ता का नाम विक्रम ही होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। कुछ वर्ष पूर्व तक इस काव्य की प्राचीन प्रति का पता न होने से कई लोगो ने इन्हें १७ वी शताब्दि के गुजरात के श्रावक कवि ऋषभदास के भाई होने का अनुमान किया था, क्योकि उनके पिता का नाम भी सांगण था पर उनके समय के पहिले की लिखित प्रस्तुत काव्य की प्रतियो के उपलब्ध होने से वह अनुमान भ्रान्त सिद्ध हो चुका हैं। नेमिदूत की अनेक प्रतिया उपलब्ध होने से उनका प्रचार बहुत अधिक रहा विदित होता है। विद्वद्वर नाथुरामजी प्रेमी ने विद्वद्रत्नमाला एव जैन साहित्य और इतिहास ग्रथ में इनके दि० सम्प्रदायानुयायी होने का अनुमान किया है। पर जिस स० १३५२ के लेख के आधार से कल्पना की गई है, उस पर विचार करने पर वह भी समीचीन प्रतीत नही होती। कवि के वर्णित क्षेत्रज्ञान के वर्णन को देखते हुए उनका निवास स्थान गुजरात काठिया-वाड में ही सम्भव है।

प्रेमीजी ने इस काव्य का सुन्दर ढग से परिचय अपने जैन साहित्य और इतिहास के पृ० ४६१ से ६५ मे दिया है विशेष जानने के लिये जिज्ञासु पाठको को उसे देख लेना चाहिये।

कवि के समय निर्णय का निश्चित साधन अनुपलब्ध है, पर प्रस्तुत काव्य की प्रति स. १४७२ की उपलब्ध होने से उत्तरकाल १५ वी शताब्दी एव अन्य बातो पर विचार करने पर पूर्वकाल १३ वी शताब्दी अनुमानित है।

वृत्तिकार परिचय

महोपाध्याय गुणविनय के जीवन के सम्बन्ध मे साधनाभाव से हमारी कुछ भी जानकारी नही है। आप कहाँ के थे, किस वश के थे, माता-पिता का क्या नाम था, कब जन्म हुआ, दीक्षा कब ली, उपाध्याय पद कब मिला व स्वर्गवास कब एव कहाँ हुआ, और आपके उपदेश से क्या क्या धर्म प्रभावना हुई, इत्यादि बातों के सम्बन्ध मे कोई भी साधन उपलब्ध नही है। अत समकालीन अन्य सामग्री एव आपके साहित्य से जो कुछ जानकारी प्राप्त हो सकी है उसे उपस्थित करते हुए आपके रचित साहित्य का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

जन्म एवं दीक्षा

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आपके जन्म सवत् एव स्थानादि के सम्बन्ध कोई निश्चित साधन प्राप्त नही है अतः अनुमान से ही काम चलाना होगा। आपकी 'सर्व प्रथम' रचना "खण्ड प्रशस्ति काव्य की टीका" है। जिसका निर्माण सं. १६४१ में हुआ है। खण्ड प्रशस्ति जैसे कठिन काव्य के ऊपर टीका लिखने की योग्यता के लिये कम से कम २५ वर्ष की अवस्था अपेक्षित है, आपका जन्म स. १६१५ के लगभग सभव है आपके गुरु श्री के विहार एव आपकी भाषा पर विचार करने से आपका जन्म मरुभूमि (मारवाड़) में ही सभव है। श्रीजिनसिंहसूरिजी (महिमराज) की दीक्षा स. १६२३ में हुई थी। दीक्षानन्दि के हिसाब से

आपकी दीक्षा उनसे पूर्व स. १६२१-२२ में हुई थी। उस समय आपकी अवस्था नियमानुसार कम से कम आठ वर्ष की भी मान ली जाय तो आपका जन्म स. १६१३-१४ के लगभग होना चाहिए। आपके गुरु जयसोमजी प्रसिद्ध विद्वान थे, अत आपका विद्याध्ययन उन्ही के पास हुआ होगा।

गुरु परंपरा

आपने अपने ग्रन्थो की प्रशस्तियो मे भी जिन कुशलसूरिजी से परपरा का सम्बन्ध मिलाया है। वश वृक्ष के पत्रो के अनुसार आपका वशवृक्ष इस प्रकार वनता है—

श्रीजिनकुशलसूरि (दे० हमारे प्र० दादा श्रीजिनकुशलसूरि)
|
महो० विनयप्रभ* (गौतमरास, नरवर्मचरित्रादि के कर्त्ता)
|
उपा० विजयतिलक (शत्रुजयस्तवनकार)
|
वा० क्षेमकीर्त्ति (इन्ही के नाम से क्षेमशाखा हुई)
|
वा० क्षेमहंस (लघुकाव्यत्रयी, वृत्तरत्नाकर के टीकाकार)
|
वा० क्षेमध्वज — सोमध्वज
|
वा० क्षेमराज (उपदेश सतति का आदि अनेक ग्रन्थो के निर्माता)
|
वा० दयातिलक,
|
वा० प्रमोदमाणिक्य,

---

*इनके स्तोत्र रास स्तवनादि का सग्रह—मुनि—श्रीविनयसागरजी संपादन कर "विनयप्रभ-साहित्य-सग्रह नाम" से प्रकाशित करने वाले हैं।

❀ आपके रचित ग्रथ इस प्रकार हैं—१–निर्युक्ति स्थापन (स० १६७६), २–लखमसी कृत २१ प्रश्नोत्तर, ३–गुणकित्व षोडशिका (मुनि विनयसागरजी के सग्रह में प्रेस कोपी), ४–ललिताग रास, ५–धर्मबुद्धि-रास (स० १३६७ राजनगर), ६–अघट कुमार चौ० (१६७४ आगरा) ७–लु कामतोत्थापक गीत (गा०६१), ८–पचकल्याणक स्तवन का अर्थ ।

वाचक पद

संवत् १६४८ में युगप्रधान जिनचन्द्रसूरिजी सम्राट अकबर के आमंत्रण से लाहोर पधारे। उस समय अन्य विद्वान साधुओ के साथ आप एव आपके गुरु भी उनके साथ थे। आपकी विद्वता उस समय काफी प्रसिद्धि पा चुकी थी, अनेको ग्रन्थो पर टीकायें वनाकर आप एक समर्थ टीकाकार के रूप मे प्रसिद्ध थे, अत स० १६४६ के फाल्गुन शुक्ला २ को यु० जिनचन्द्रसूरिजी ने वा० महिमराज को आचार्य पद, रत्ननिधान ❀ को एव आपके गुरु वा० जयसोम को उपाध्याय पद दिया था, उसी समय आपको एव कविवर समयसुन्दर को वाचनाचार्य पद प्रदान किया था, जिसका उल्लेख आपके गुरु जयसोमजी के रचित कर्मचन्द्र वश प्रवध एव आपके रचित कर्मचन्द्र वश प्रबन्ध वृत्ति एव कर्मचन्द्र वशावली रास में पाया जाता है।

सम्राट जहांगीर द्वारा कविराज पद प्राप्ति—आपकी विद्वत्प्रतिभा असाधारण थी। सम्राट जहांगीर ने आपके नवीन काव्यो को सुनकर आपको कविराज का पद दिया था। जिसका उल्लेख आपके विद्वान् शिष्य मतिकीर्ति ने अपने निर्युक्ति स्थापन प्रश्नोत्तर ग्रन्थ की प्रशस्ति में किया है।

'चम्पू-रघु-मुख्यानां, ग्रन्थानां विवरणाच्चथा जहांगीरात्।
नवनवकवित्त्वकथने स्यादा प्राप्तं कविराजपदं ॥५॥

साहित्यसेवा—आपने विद्याध्ययन समाप्त कर सं० १६४१ से साहित्य का निर्माण प्रारभ किया, जो स० १३७६ तक निरन्तर चालू रहा। फलत आपकी रचनाओ की सख्या विशाल है। पहले पहल आपने उपयोगी काव्यो, जैन प्रकरणो एव स्तोत्रो पर टीकायें (सस्कृत एव भाषा टीका वालाववोध रूप मे) वनाना प्रारम्भ किया, और स० १६५४ से रास चौपाई आदि राजस्थानी भाषा के काव्यो का निर्माण कर मातृ भाषा की सेवा करने लगे। यद्यपि इससे पहिले भी आपने छोटी मोटी कई राज-

---

❀ नलचपूवृत्ति के आप सशोधक थे।

स्थानी भाषा मे रचनाये की है पर बडे काव्य मुक्तक पदो को छोड कर यहाँ प्रबन्ध काव्यो की दृष्टि से ही स० १६५४ से प्रारभ लिखा गया है। बालावबोध भाषा टीकाये राजस्थानी गद्य मे लिखी गई है। आपके रचित साहित्य की सूची दी जा रही हैं। इनके अतिरिक्त कई सस्कृत में स्तोत्र एवं भाषा के स्तवन, सज्भाय गहूँली आदि अनेक पाये जाते हैं। जिनमें से ८० के करीब मैंने सग्रहीत किये हैं। आपकी कृतियो का जैसा चाहिये वैसा प्रचार नही हो पाया था, अत कई ग्रन्थ नष्ट हो गये प्रतीत होते हैं, ऐसेग्रन्थो में से दशाश्रुतस्कन्ध वृत्ति आदि है।

आपके अक्षर सुन्दर थे, बीकानेर के जन ज्ञान भण्डारो एवं हमारे सग्रह मे भी आपके लिखित कई ग्रन्थ एव स्तवना दिन के पचासो पत्र उपलब्ध हैं।

विहार एवं तीर्थयात्रा—जैन साधुओ का जीवन भ्रमणशील है वे एक स्थान पर अधिक समय न रहकर सर्वत्र पैदल विहार कर धर्म प्रचार करते रहते हैं, इस भ्रमण मे धर्म प्रचार के साथ तीर्थयात्रा का भी लाभ हो जाता हैं।

स० १६४४ में बीकानेर से शत्रुञ्जय का यात्री संघ निकल कर सघपति सोमजी के साथ गिरिराज की यात्रा को गया था, उसमे आप भी सम्मिलित थे और उस सघ के वर्णन रूप में आपने शत्रुञ्जय चैत्य परिपाटी स्तवन बनाया है। स० १६६३ फाल्गुन सुदी ३ को भी आपने शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा कर स्तवन बनाया व स० १६७५ वैशाख सुदी १३ को स० रूपजी कारित बृहद् प्रतिष्ठा महोत्सव के समय भी आप जिनराजसूरिजी के साथ शत्रुञ्जय पर विद्यमान थे।

आपके रचित स्तवनो में फलोदी पार्श्वनाथ, मालासर में ऋषभदेव, सागानेर में पद्मप्रभ, विशाला में विमलनाथ, बीकानेर में नमिनाथ, भकुल (?) में पार्श्वनाथ, गोडीपार्श्वनाथ, पालीपार्श्वनाथ, लौद्रवा पार्श्वनाथ, नाकोड़ा पार्श्वनाथ, शखेश्वर पार्श्वनाथ, निबाज पार्श्वनाथ, राडद्रह में वीरप्रभु व कुशलसूरि, खभात में स्तभनपार्श्वनाथ, जैसलमेर मे पार्श्वनाथ, अमृतसर मे कुशलसूरिजी के दर्शन का उल्लेख पाया जाता है।

इनके अतिरिक्त आपकी कृतियो से आपका पधारना विल्वतटपुर (वेनातट) तोसाम, सवरनगर, वापडाउ, रूण, महिमपुर, नवानगर, वाहडमेर, आगरा, राजनगर आदि स्थानो में भी हुआ जाना जाता है।

जैन शास्त्रों का गम्भीर अनुशीलन—जैन शास्त्रो का अध्ययन आपका वहुत ही गम्भीर एग विशाल था। यह आपके रचित हुंडिका (जिसमें १५० ग्रन्थों के पाठ उद्धृत हे) एग खण्डनात्मक * साहित्य से भली भाति सिद्ध होता है। गुरु परपरा से भी आपको वहुत ज्ञान प्राप्त हुआ था, क्योकि आपके गुरु जयसोमजी जैन शास्त्रो के नामांकित विद्वान् थे।

स्वर्गवास—स० १६७६ के पश्चात् आपकी कोई भी रचना उपलव्व नही है, अत सभव है इसके पश्चात् आपका स्वर्गवास शीघ्र ही हो गया होगा।

शिष्य परम्परा—आपके गुरु विद्वान् थे गैसे ही आपके शिष्य मतिकीर्त्ति भी अच्छे विद्वान् थे। १६ वी शताब्दी तक आपकी शिष्य परम्परा वरावर चलती रही, जिनकी नामावली ऊपर वशवृक्ष मे दी गई है।

रचित–साहित्य

(संस्कृत टीकायें)

१—खण्डप्रशस्ति	वृत्ति	स० १६४१		हमारे सग्रह मे
२—नेमिदूत काव्य	,,	,, १६४४	बीकानेर	प्रस्तुत
३—नलचम्पू	,,	,, १६४६ (७ ?)	सेरुणा	सेठिया लायब्रेरी
४—रघुवंश	,,	,, ,,	बीकानेर	वडा ज्ञान भडार
५—वैराग्यशतक	,,	,, १६४७		प्रकाशित

* तपगच्छीय उ, धर्मसागर ने जैसे प्रवचनपरीक्षा मे अन्य गच्छ वालो की मान्यताओ का खण्डन किया है, वैसे ही आपने भी किया है, पर आपकी भाषा उन जैसी उग्र न होकर सौम्य है।

६–सबोधसप्तति „ „ १६५१ बीकानेर

७–कर्मचंद्रवंशप्रबंध„ × „ १६५६ चै शु शनि पुष्य, तोसामनगर (जिनविजयजी छपा रहे हैं)

८–लघुशान्ति वृत्ति „ १६५६ बेनातट हमारे संग्रह में

९–इन्द्रियपराजयशतक वृत्ति सं. १६६४

१०. लघुअजितशांति „

११. ऋषिमण्डल अवचूरि

१२. दशाश्रुतस्कन्ध टीका (उल्लेख फुटकर पत्र मे) अप्राप्य

१३. शीलोपदेश माला लघुवृत्ति आत्मानंद सभा भावनगर

भाषा टीकायें (बालावबोध)

१. बृहत्संग्रहणी बालावबोध अपूर्ण प्रति अनंतनाथ ज्ञान भं० बम्बई

२. आदिनाथस्तव (विजयतिलक)„ बापडाउ, ज्ञाननंदन आग्रह से

३. णमुत्थुणं (प्रणिपातदंडक)„

४. जयतिहुअण स्तोत्र बालावबोध पत्र १३ स्वयं लि० रामचन्द्र भं,

५. भक्तामर टब्बा

६ कल्पसूत्र बालावबोध, (कई पत्र स्वयं लि० बद्रीदास संग्रह कलकत्ता)

७. साधु समाचारी संभवतः उपरोक्त मे ही हो।

८. चरणसत्तरी करणसत्तरी भेद

अनेकार्थ

१. सव्वत्थ शब्दार्थ समुच्चय ("सव्वत्थ" शब्द के ११७ अर्थ) (अनेकार्थ रत्नमंजूषा मे प्रकाशित)

× नं० ३ को छोड कर पूर्व रचित पांचो की वृत्ति का उल्लेख इस वृत्ति में है।

सशंकित

१. मितभाषिणी वृत्ति (उ जै० गुर्जर कवियो में है पर भ्रमित ज्ञात होती है)

२ तपगच्छचर्चा, पत्र ८ आत्मानन्द सभा

(वास्तव में यह तपागच्छीय गुणविजय रचित होगी)

३. गीतसार टीका (नलचपू की प्रस्तावना में उल्लेख)

संग्रहात्मक

१. हुण्डिका स० १७५७ सेसरणा श्लोक सं० १२०००

२ प्रश्नोत्तर—

रास चौपाई

१. कयवन्ना संधि स० १६५४ नेमिजन्म महिमपुर, बीकानेर भ.

२ कर्मचन्द्र वंशावली रास ,, १६५६ माघ वदि १० सवरनगर, प्रकाशित

३ अजना सुन्दरी रास. ,, १६३२ (६३?) चै. सु ९ खंभात

४ ऋपिदत्ता चौपाई ,, १६६३ ,, ,,

५ गुणसुन्दरी ,, ,, १६६५ नवानगर

६. नलदमयती प्रवन्ध ,, १६६५ आसु. वदि. ६ ,,

७. जवू रास ,, १६७० आ. सुदि १० वाडमेर

८ धन्नाशालिभद्र चौपाई ,, १६७४ मि. १ आगरा (श्रीमाल मानसिंघ आग्रह से)

९. अगडदत्त रास

१०. कलावती चौपाई ,, १६७३ श्रा. सुदी ९ साँगानेर

११. बारह व्रतरास ,, १६५५

१२. जीवस्वरूप चौपाई ,, १६६४ राजनगर पत्र १३ भा. रि. इ. पूना

१३. मूलदेव चौपाई ,, १६७३ जे. सुदी १३ साँगानेर

पत्र ५ मुकनजी स०

१४. दुमुह प्रत्येक बुद्ध चौपाई आदिपत्र रामलालजी स०

१५. शत्रुंजय चैत्य परिपाटी गा. ३२ सं० १६४४

१६. पार्श्वनाथ स्तवन ,, २७ ,, १६५७ आषाढ पूर्णिमा
१७ चार मगल गीत ,, २७ ,, १६६०
१८. शत्रुंजय यात्रा स्तवन १६६३ फा. सुदी १२
१९. जेसलमेर पार्श्वनाथ स्तवन गा. १६ स० १६७२
२०. जिनराजसूरि अष्टक १६७६
२१. निवाज पार्श्व स्तवन १६७६ चै. बदी २

खण्डनात्मक

१–अचलमत स्वरूप वर्णन १६७४ भा. सुदी ६ मालपुर (थाहरु भंडार)
२–लुम्पकमततमोदिनकर चौपाई १६७५ सा. वदी ६ सागानेर (जयपुर भ)
३–तपा ५१ बोल चौपाई, १६७६ राडद्रहपुर (बीकानेर भडार)
४–प्रश्नोत्तर मालिका (पार्श्वचन्द्र मतदलन) १६७३ सांगानेर
५–कुमतिमत खण्डन (उत्सूत्रोद्घाटन कुलक) १६७५ नवानगर, प्रकाशित

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रस्तुत काव्य मूल एव हिन्दी अनुवाद इससे पूर्व भी प्रकाशित हो चुका है पर इस सस्करण की दो दृष्टियो से विशेप महत्व एवं उपयोगिता है। पहली विशेषता अद्यावधि अज्ञात प्राय वृत्ति प्रकाशन एव दूसरी हिन्दी पद्यानुवाद का साथ होना। वृत्ति के होने से सस्कृत के साधारण अभ्यासियो के लिये काव्य भाव को समझना एवं रसास्वादन करना सुगम हो गया है, एव हिन्दी पद्यानुवाद से सस्कृत से अनभिज्ञ जनसाधारण भी इसको हृदयंगम कर सकेंगे। हिन्दी पद्यानुवाद बहुत ही सुन्दर बना है, एवं उसके पढने से मौलिक हिन्दी काव्य का सा आनन्द प्राप्त होता है। इसके रचयिता भैसरोडगढ़ निवासी महारावत श्री हिम्मतसिंहजी 'साहित्यरंजन' हैं जो काव्य मर्मज्ञ होने के साथ ख्याति प्राप्त सुकवि हैं। जन्मत जन न होने पर भी आप जैनधर्म से अनुराग रखते है, और मुनि-विनयसागरजी के अनुरोध से उन्होने प्रकाशित करने की अनुमति दी, एतदर्थ हम आपके विशेष रूप से आभारी हैं।

अन्त में मुनि श्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ, एव ग्रन्थकार एवं वृत्तिकारादि के सम्बन्ध में अपने मनोभावो को प्रकाशित करने का मुझे सुयोग दिया,

एतदर्थ आपका आभार मानते हुए भविष्य में भी वे साहित्य सेवा में निरन्तर अधिकाधिक अग्रसर होते रहें यही अनुरोध करता हुआ अपनी प्रस्तावना को समाप्त करता हू । काव्यशास्त्र का तथाविध ज्ञान न होने से साहित्यिक दृष्टि से विशेष प्रकाश नही डाल सका, इसका मुझे स्वय खेद है ।

फाल्गुन शुक्ला ३ }
सं० २००४, }

अगरचन्द नाहटा

नेमिदूतश्लोकानां मातृकावर्णक्रमेणानुक्रमणी ।

—०:०:०—

॥ ॐ नमः ॥

नमो नमः श्रीमज्जिनमणिसागरसूरीश्वरपादपद्मेभ्यः ।

मन्त्रिवर्य्य–श्रीविक्रम–प्रणीतम्–

श्री नेमिदूतम् ।

उपाध्यायश्रीगुणविनयगणिविनिर्मितवृत्तिविभूषितम् ।

※ वृत्तिकार–मंगलाचरणम् ※

श्रीपार्श्वं प्रणिपत्य सत्यमनसा सानन्दवृन्दारकै-
वन्द्यं श्रीगुरुराजबन्धुरपदद्वन्द्वं च दोषापहम् ।
राजीमत्यभिवल्लभोक्तिरचना विज्ञप्तिरूपात्मकं,
सत्काव्यं विवरीषुरस्मि विशदं श्रीनेमिदूताभिधम् ॥ १ ॥

—मूलम्—

प्राणित्राणप्रवणहृदयो बन्धुवर्गं समग्रं,
हित्वा भोगान् सह परिजनैरुग्रसेनात्मजां च ।
श्रीमान्नेमिर्विषयविमुखो मोक्षकामश्चकार,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्य्याश्रमेषु ॥ १ ॥

श्रीमान्—लक्ष्मीवान् नेमिर्नेमिनाथो जिनः 'रामगिर्य्याश्रमेषु' रामो-रमणीयो यो गिरिरुज्जयंताख्यः पर्वतस्तस्याऽऽश्रमास्तपस्विवासास्तेषु वसतिं चकार-निवासं कृतवान्। 'राम श्यामे हलायुधे। पशुभेदे सिते चारौ, राघवे रेणुकासुते"। इत्यनेकार्थः। यद्यपि श्रीनेमेरेकाकित्वाद्रामगिर्याश्रमे' इत्येकवचनमेव न्याय्यं, तथापि संवेगरसाकुलितचेतसां स्त्र्यादिजनवियुक्तस्थानेष्वेव निवसनात् नैकत्रावस्थानं संभवति, कदाचित् क्वचिदाश्रमे दिवसमतिवाहयन्तीति बहुवचनं, अनेन चानेकाश्रमपावित्र्यं च पर्वतस्य व्यज्यते। कथंभूतेषु स्निग्धच्छायातरुषु छाया आतापाऽभावस्तया उपलक्षितास्तरवः, यद्वा छाया-शोभा तदर्थं तरवः, यद्वा छाया-प्रधानास्तरवः पूर्वापरदिग्भागभाज्यपि सूर्ये-सवितरि येषां छाया न निवर्तते-ते छायातरव, यद्वा छाया-पंक्तिस्तस्यां तरवः स्निग्धाः सरसपल्लवोल्लासितच्छायास्तरवो येषु तेषु, छायाशब्दः पंक्तिवाचकोप्यस्ति। यदुक्तमनेकार्थे- 'छाया पंक्तौ प्रतिमाया-मर्कयोपित्यनातपे। उत्कोचे पालने कांतौ, शोभायां च तमस्यपीति'। किम्भूत. श्रीनेमि. 'प्राणित्राणप्रवणहृदय. 'प्राणिनां प्रकृतत्वाच्छाग-सारंगादीनां यत्त्राणं-रक्षणं तत्प्रवणं तदासक्तं हृदयं-चित्तं यस्य स', इत्यनेन श्रीनेमि. राजीमतीविवाहार्थमुपागतस्तस्यानेककारुण्याश्रयमृगादिवाटकमवलोक्य पश्चाद्वालितरथस्य परमकृपाश्रयत्वं वोधितं। किंकृत्वा तत्र वसतिं चकारेत्याह—समग्रं-समस्तं बन्धुवर्गं-स्वजनसमुदायं परिजनैः सह भोगान् उग्रसेनात्मजां-राजीमतीं च हित्वा—परित्यज्य, इत्यनेन भगवतो नीरागता वोधिता। अतएव कथंभूत 'विषयविमुख' विषयाच्छब्दादिविषयरागाद्विमुखः- प्रतिकूलमनाः। पुन किंभूत. 'मोक्षकाम.' मोक्षं-निःश्रेयसं कामयते-वाञ्छतीति मोक्षकाम', इत्थंविध श्रीनेमी रेवताद्रौ उवासेति प्रथमवृत्तार्थः। अत्र स्वभावोक्तिरलंकारः॥ १॥

सा तत्रोच्चैःशिखरिणि समासीनमेनं मुनीशं,
नासान्यस्तानिमिषनयनं ध्याननिद्धूतदोषम्।

योगासक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

अथ श्रीनेमिनाथं रेवताद्रौ संप्राप्तं श्रुत्वा श्रीराजीमती स्वप्रियमिलनगाढोत्कंठा घटितरणरणकरणव्याकुलमानसा स्वपित्रादिभिर्वार्यमाणापि प्रियसखीसहायात् विहायान्यकृत्यं तत्रैव गिरौ जगाम तत्र च सा राजपुत्री राजीमती एनं मुनीशं योगिस्वामिनं ददर्श– दृष्टवती। किंभूतं मुनीशं? उच्चैः शिखरिणि अत्युन्नतपर्वते उज्जयंताख्ये समासीनमुपविष्टं। पुनः किंभूतं? 'नासान्यस्तानिमिषनयनं' नासिकायां न्यस्ते स्थापिते ध्यानार्थं अनिमेषे–निमेषरहिते नयने नेत्रे येन स तं। पुनः किंभूतं? 'ध्याननिरुद्धतदोषं' ध्यानेन निरुद्धा पराकृता दोषा रागद्वेषादयो येन स तं। पुनः किंभूतं? 'योगासक्तं' योगो मोक्षोपायः श्रद्धानज्ञानचरणात्मकस्तत्रासक्त आलीनो यः स तं। पुनः किंभूतं? 'सजलजलदश्यामलं' सजलो जलभृतो यो मेघस्तद्वत् श्यामलं नीलवर्णं। पुनः किंभूतं? 'वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं' वप्रे तटे क्रीडा वप्रक्रीडा तस्यां परिणतस्तिर्यक् दत्तप्रहारो योऽसौ गजस्तद्वत् प्रेक्षणीयो दर्शनीयो यः स तथा तं। अत्र नेमिगजयोर्लुप्तोपमालंकारः ॥ २ ॥

उद्वीक्ष्येमं शमसुखरतं मेदुरांभोदनादै–
र्नृत्यत्केकिव्रजमथनगं प्रोन्मिषन्नीपपुष्पम् ।
सा शोकार्त्ता क्षितितलमगात् स्यान्न दुःखं हि नार्योः,
कंठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥३॥

सा राजीमती शोकार्त्ता भर्त्रनुसंगमाभावाच्छोकपर्याकुला सती क्षितितलं पृथ्वीतलं अगात्–प्राप्ता। किं कृत्वा? इमं प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणं, श्रीनेमिं शमसुखरतं–उपशान्तिसुखोपगतं उद्वीक्ष्य–दृष्ट्वा, अथेति पुनरर्थे। अथ पुनर्नगं पर्वतमुद्वीक्ष्य। किंभूतं नगं? मेदु-

रांभोदनादैर्मेदुरा पुष्टा ये अंभोदनादा-मेघध्वनयस्तैः । किंकृत्वा ? 'नृत्यत्केकिव्रजं' नृत्यन्-क्रीडां कुर्वन्, केकिव्रजो-मयूरकलापो यस्मिन्स तं । पुनः किंभूतं ? प्रोन्मिषन्नीपपुष्पं' प्रोन्मिषन्ति विकसन्ति नीपवृक्षाणां पुष्पाणि-कुसुमानि यस्मिन्स तं । अमुमेव शोकलक्षणमर्थमर्थान्तरेण द्रढयति, हि-निश्चितं नार्य्याः 'कण्ठाश्लेषप्रणयिनि' कंठस्य आश्लेष कण्ठाश्लेषः, कण्ठाश्लेषे प्रणयोऽस्यास्तीति कंठाश्लेषप्रणयी तस्मिन् प्रियतमलक्षणे जने दूरसंस्थे पुनर्दुःखं कि न स्यात् ? अपितु विशेषत एव स्यात् । गिरिशिखराद्युत्तीर्णत्वाद्राजीमत्या अपि प्रियेण सह दूरसंस्थत्वमिति । अत्रार्थान्तरन्यासोलंकार ॥ ३ ॥

तां दुःखार्त्तां शिशिरसलिलासारसारैः समीरै–
राश्वास्येव स्फुटितकुटजामोदमत्तालिनादैः ।
साध्वीमद्रिः पतिमनुगतां तत्पदन्यासपूतः,
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

अद्रिरुज्जयंताभिधो गिरिस्तां साध्वीं-शोभनशीलां दुःखार्त्तां-राजीमतीं समीरैर्वायुभिराश्वास्येवाश्वासं प्रापयित्वेव 'स्फुटितकुटजामोदमत्तालिनादैः' स्फुटितानि-विकसितानि यानि- कुटजानि-कुटजपुष्पाणि तेषां य आमोदः-परिमलस्तेन मत्ता ये अलयो-भ्रमरास्तेषां नादैर्ध्वनिभिः स्वागतं व्याजहार-आबभाषे । कथं ? यथा भवति-' प्रीतिप्रमुखवचनं' प्रीत्या प्रमुखं मुख्यं वचनं यत्र तत्तथा, प्रीतिपेशलवचसा सुखागमन- वार्त्तामपृच्छदिति भावः । यद्वा विशेषणमिदं-प्रीतेः प्रमुखं आद्य- वचनं यत्तत्प्रीतिप्रमुखवचनं चेति । कथंभूतोऽद्रिः ? प्रीत एतत्प्रयोजन- मनुष्ठास्यामीति हृष्टः । कथंभूतां तां ? पतिमनुगतां-भर्त्तारमनुप्राप्तां । कथंभूतैः समीरैः? 'शिशिरसलिलासारसारैः' शिशिरसलिलैः- शीतलजलैः कृतो य आसारो-वेगवान् वर्षस्तेन साराः-प्रधानास्तैः । किंभूतोऽद्रिः ? ' तत्पदन्यासपूतः ' तस्य-श्रीनेमेः पदन्यासेन-चरण- रचनया पूतः पवित्रः ॥ ४ ॥

सिद्धेः सङ्गं समभिलषतः प्राणनाथस्य नेमेः,
सा तन्वंगी विरहविधुरा तच्छिरोधिष्ठितस्य ।
तं सम्मोहाद्द्रुतमनुनयं शैलराजं ययाचे,
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥५॥

सा तन्वंगी राजीमती विरहविधुरा-भर्त्तृवियोगपीडिता सती प्राणनाथस्य-नेमेरनुनयं-प्रसादनं द्रुतं-शीघ्रं सम्मोहात् मनोभवविकारोत्थचित्तवैकल्यात्तं, शैलराजं-रैवतकं ययाचे-प्राथितवती । किंकुर्वतो-नेमेः? सिद्धेर्मोक्षस्य संगं-संयोगं समभिलषतः-अभिकांक्षतः । किंभूतस्य? 'तच्छिरोधिष्ठितस्य' तस्य उज्जयंतस्य शिरसि-शिखराग्रेऽधिष्ठितस्य-निषण्णस्य, ननु पर्वतस्य चेतनाविकलत्वात्, कथं तं प्रति राजीमत्यास्तत्प्रसादनयाञ्चा घटत? इत्यनौचित्यं चार्थान्तरन्यासेन निरस्यति-हि यस्मात्कामार्त्तांश्चेतनाचेतनेषु प्रकृतिकृपणा भवन्ति प्रकृत्या-स्वभावेन कृपणास्तद्धनानिर्बन्धपरा इत्यर्थः, अयमभिप्रायः । असौ कार्यक्षमोऽक्षमो वाऽयमिति अविचार्यैव, यथा चेतनेषु तथाऽचेतनेष्वपि प्रवर्त्तन्ते स्वीकारपरा भवन्तीत्यर्थः । यथा कृपणो लक्षणया दरिद्रः प्रकृतौ स्वभावविषये कृपणश्चेतनाऽचेतनस्वभावपरिज्ञानविकल इत्यर्थः । कामार्त्ता इति बहुवचनं व्याप्तिसूचकं । अन्योऽपि कामार्त्तः सन् तथाविध एव भवति, तेन नास्य दोष इति । अर्थान्तरन्यासोपमालंकारः ॥ ५ ॥

सा तं दूना मनसिजशरै-र्यादवेशं बभाषे,
रक्षत्यार्त्तं शरणगमसौ क्षत्रियस्येति धर्म्मः ।
तन्मां स्वामिन्नवसदधीनासुमभ्यर्थये त्वां,
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा ॥६॥

सा राजीमती मनसिजशरैर्मन्मथबाणैर्दूना-संतापिता सती, तं यादवेशं इति बभाषेऽभाणीत् । इतीति किं? शरणगं-शरणप्राप्तं आर्त-

पीडितं रक्षति-पालयति, असौ क्षत्रियस्य धर्मः-क्षत्रवंशोद्भवस्यानुष्ठानं तत्तस्माद्धेतोर्भवतोऽपि क्षत्रियमौलिमौलिरत्नायमानत्वात् हे स्वामिन्! हे प्राणनाथ! त्वां प्रार्थये प्रार्थनां करोमि। मां-अबलां भवदधीनासु भवति त्वयि आधीना आयत्ता असवः-प्राणा यस्याः सा तां,-त्वत्स्वीकारे एव विद्यमानजीवितां इत्यर्थः, अव-रक्ष। यदि कश्चिदन्योऽपि स्वजनो मम वल्लभो भवेत्तदा तमेव नियोजयामि, परं दैवात्त्वमेव मम प्राणप्रियोऽभवस्तेन त्वां ययाचे इत्यर्थः। न चैतदयुक्तं यतः-अधिगुणे-गुणाधिके पुंसि याञ्चा मोघापि अलब्धकामापि-निष्फलापि वरं-इष्ट, अधमे नीचे लब्धकामापि-पूर्णाभिलाषापि, नवरं-अनुक्तोऽपि उक्तिविशेषादपि शब्दस्तावदत्राक्षिप्यते, अकार प्रश्लेषोप्यत्र मन्तव्यः। मोघापि अमोघापि वरं लब्धकामापि अलब्धकामापि वरमिति कोऽर्थः? यद्यपि गुणाधिक प्रार्थितो न ददाति तदा तस्यैव वचनीयता न याचितुः, अधमात् पूर्णकामोऽपि याचको निन्द्यत एव। 'वरं तु घुसृणे किंचिदिष्टे' इत्यनेकार्थः। अर्थान्तरन्यासोलंकार ॥६॥

तुंगं शृंगं परिहर गिरेरेहि यावः पुरीं स्वां,
रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशांतरालम्।
शोभासाम्यं कलयति मनागलका नाथ! यस्याः,
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका-धौतहर्म्या ॥७॥

हे नाथ! गिरेः-शिखरिणस्तुंगं उच्चैस्तरं शृंगं-शिखर परिहर-परित्यज तथा एहि-आगच्छ स्वां-निजां यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तां पुरीं-नगरीं द्वारिकां यावः-गच्छाव। किंभूतां पुरीं? 'रत्नश्रेणीरचितभवनद्योतिताशान्तरालं' रत्नश्रेणीभी रचितानि-विनिर्मितानि यानि भवनानि-गृहाणि तैर्द्योतितानि-प्रकाशितानि आशांतरालानि-दिगन्तरालानि यया सा तां, यस्या नगर्य्याः शोभासाम्यं मनागपि, अनुक्तोप्यपि शब्दोत्राऽऽक्षिप्यते। अलका-धनदनगरी न कलयति-न दधाति, शोभातिशयधारित्वात् तस्याः। कथंभूता अलका? 'बाह्योद्यानस्थित-

हरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या' बाह्ये उद्यानं बाह्योद्यानं तत्र स्थितो योऽसौ हरस्तस्य शिरो मस्तकं तत्र या चंद्रिका तया धौतानि-धवलीकृतानि हर्म्याणि गृहाणि यस्यां सा ॥ ७ ॥

आलोक्यैनं तरलतडिताऽऽक्रान्तनीलाब्दमालं,
प्रावृट्कालं विततविकसद्यूथिकाजातिजालम् ।
अंतर्जाग्रद्विरहदहनो जीवितोलंबनेऽलं,
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः॥८॥

हे नाथ ! एनं प्रावट्कालं-वर्षाकालमालोक्य-दृष्ट्वा अहमिव-मद्वदन्योपि 'अपि शब्दः सभावनायां' यो जनः पराधीनवृत्तिर्दैवपरतन्त्रो भवेत्, स जीविताऽऽलंबने प्राणधारणे नालं न समर्थः स्यात् ? श्रावणे हि सजलजलदारवभैरवत्वान् विरहिणीनां जीवितं सशयतुलामधिरोहतीति भाव । किंभूतो जन ? 'अंतर्जाग्रद्विरहदहन' अंतश्चित्ते जाग्रत्-परिस्फुरन् विरह एव दहनोऽग्निर्यस्य स । किभूत वर्षाकालं ? तरलतडिताक्रान्तनीलाब्दमाल' तरला-चंचला-या तडिद्विद्युत्तया आक्रान्ता-आश्लिष्टा नीलाब्दमाला-कृष्णमेघश्रेणिर्यस्मिन्स तं । पुनः किंभूतं ? 'विततविकसद्यूथिकाजातिजालं' वितता-विस्तीर्णा विकसंत्यो या यूथिका-मागधीपुष्पाणि जातयश्च मालतीपुष्पाणि तासां जालं-समूहो यस्मिन्स तं, यूथिकाजातयश्च, वर्षास्वेव पुष्यन्तीति भावः ॥ ८ ॥

अस्मादद्रेः प्रसरति मरुत्प्रेरितः प्रौढनादै-
र्भिन्दानोऽयं विरहिजनताकर्णमूलं पयोदः ।
यं दृष्ट्वैताः पथिकवदनाम्भोजचन्द्रातपाऽऽभाः,
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥९॥

हे नाथ ! अस्मादद्रेर्गिरेरय पयोदो-मेघः मरुत्प्रेरितो-वायुचलित प्रसरति-प्रवर्त्तते । किं कुर्वाण ? प्रौढनादै -प्रवृद्धस्तनितैर्विरहिजनताकर्णमूल विरहिजनता-वियोगिलोकसमूहस्तस्या कर्णमूल-

श्रोत्रसामीप्यं भिन्दानः विदारयन्। अयमिति कः ? यं मेघं दृष्ट्वा गता बलाका-बलाहकस्त्रियः खे-आकाशे भवन्तं-त्वां सेविस्यन्ते भजिष्यन्ति। भवतोऽपि नीलवर्णत्वात् तद्बुद्ध्येति भावः। किंभूतं भवन्तं? नयनसुभगं-लोचनाभिरामं। किंभूता बलाकाः ? 'पथिकवदनाम्भोजचन्द्रातपाभाः' पथिकवदनांभोजेषु-पांथमुखाब्जेषु चन्द्रातप इव कौमुदीवत् आभान्तीति यास्तास्तथात्यपे बलाकादर्शनाद्विरहिजनमुखांभोजानि म्लायन्तीति भावः ॥ ९ ॥

वीक्ष्याकाशं नवजलधरश्याममुद्दामकामा-
विर्भावेन व्यथितवपुषो योषितो विह्वलायाः।
काले कोऽस्मिन् वद यदुपते ! जीवितेशादृतेऽन्यः,
सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥१०॥

हे यदुपते। श्रीनेमे। त्वं वद-ब्रूहि। विह्वलाया-विरहेण विक्लवाया योषितो मम राजीमत्याः, अस्मिन्काले-वर्षासमये जीवितेशाद्भर्तुः ऋते-विना कोऽन्यः विप्रयोगे सति प्राणनाथवियोगे सति सद्यः पाति-तत्कालपतनशीलं हृदयं रुणद्धि-विरहदुःखितमरणाध्यवसायान्निवारयति। किंभूतं हृदयं ? प्रणयि स्नेहलं, अन्यदपि पतत् रज्ज्वादिबन्धेन धार्यते इत्युक्तिलेशः। यत एव प्रणयि तत एव सद्यः पाति प्रणयाभावात् प्रायः कठिनहृदयाः स्त्रियो भवन्ति। किंभूताया योषितः ? नवजलधरश्यामं-नूतनमेघकृष्णं आकाशं-नभो वीक्ष्य उद्दामकामाविर्भावेनोत्कटमनोभवोल्लासेन 'व्यथितवपुषः' व्यथितं-पीडितं वपुः-शरीरं यस्या सा तस्याः ॥ १० ॥

शैलप्रस्थे जलदतमसाऽऽच्छादिताशाम्बरेण,
स्निग्धश्यामांजनचयरुचोऽऽसादितामिन्नभावाः।
यामिन्योमूर्विहितवसतेर्वासरा चाजनेऽस्मिन्,
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥११॥

हे नाथ! अस्मिन् अजने-जनविरहिते शैलप्रस्थे-उज्ज्यन्ताद्रिशिखरिणि विहितवसते-कृतनिवासस्य भवतस्तव नभसि-श्रावणे मासि अमूर्यामिन्यो-रात्रयः वासराश्च-दिनानि जलदतमसा-मेघान्धकारेण आसादिताभिन्नभावाः-प्राप्तैकत्वभावाः संपत्स्यन्ते-भविष्यन्ति, रात्रेरन्ह्नोवा विशेषपरिज्ञानं न भविष्यतीत्यर्थः। किंभूतेन जलदतमसा? 'आच्छादिताशांबरेण' आच्छादिते-आवृते आशांबरे-दिगाकाशे येन तत्तेन। पुनः किंभूतेन? 'स्निग्धश्यामांजनचयरुचा' स्निग्धोरूक्षः श्यामो योऽञ्जनचयः कज्जलजालं तद्वद् रुक्-कांतिर्यस्य तत्तेन। अनुक्तोपि च शब्दोत्राऽऽक्षिप्यते, च पुनः राजहंसा-हंसविशेषा भवत सहाया अनुचराः संपत्स्यन्ते ॥ ११ ॥

तन्मत्वैवं व्रज निजपुरीं द्वारिकां सत्सहायै-
र्गोविंदाद्यैः सममनुभवन्नासाद्य राज्यं सुखानि।
जाते तेषां यदुवर! पुनः सङ्गमे भाविनी ते,
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ १२ ॥

हे नाथ। तत्तस्माद्धेतोरेवं मत्वा-मद्वचनं मनस्यवधार्य्य निजपुरीं-स्वीयनगरीं द्वारिकां व्रज-गच्छ। तत्र सत्सहायैः-सन्तो विद्यमानाः सहाया अनुचरा येषां ते, तैः सत्सहायैर्गोविंदाद्यैर्विष्णुप्रमुखैः समं-सार्द्धं राज्यमासाद्य-प्राप्य सुखानि विषयसौख्यान्यनुभव आस्वादय। हे यदुवर। तेषां गोविन्दादीनां सङ्गमे संयोगे जाते, ते तव पुनर्भूयः स्नेहव्यक्तिर्भाविनी। किंकुर्वतस्तव चिरविरहजं-बहुकालवियोगसमुत्थं उष्णं बाष्पं मुञ्चति। स्वजनस्य चाग्रतो दुःखं विवृतद्वारमिव जायते। एतदेव सखित्वं यच्चिरेण सुहृद्दृष्टेन बाष्पाविर्भावो जायते ॥ १२ ॥

वन्याहारा धृतमुनिजनाऽऽचारसाराः सदारा,
यां नाथान्तेवयसि सुधियः क्षत्रियाः संश्रयन्ते।

किं तारुण्ये गिरिवनभुवं सेवसे तां तपोभिः,

क्षीणः क्षीणः परिलघु पयःस्रोतसां चोपभुज्य ॥१३॥

हे नाथ ! यां गिरिवनभुवं—उज्जयन्तकाननवसुधां सुधियः परिणतवुद्धय. क्षत्रियाः अन्तेवयसि-वृद्धावस्थायां सश्रयन्ते-भजन्ते। क्षत्रिया किंभूता. संत ? "वन्याहारा" वने साधवो वन्या-व्रीह्यादयस्तेषामाहारो-भक्षणं येषां ते वन्याहाराः। पुनः किंभूता ? 'धृतमुनिजनाचारसाराः' धृतोऽङ्गीकृतो यो मुनिजनानां आचारः-क्रियाविशेषस्तेन सारा -प्रधानाः। पुनः किंभूता. संत. ? सदाराः सकलत्राः ततस्तारुण्ये—यौवने वयसि हे नाथ ! तपोभि. क्षीण. क्षीणः—क्षाम. क्षाम सन् स्रोतसां—निर्झराणा नदीनां वा पय उपभुज्य च पीत्वा। 'किमित्याक्षेपे' तां गिरिवनभुवं सेवसे, एतद्वयस्येतत्कर्मणोऽनुचितत्वात्। कीदृशं पय. ? परिलघु निर्मलत्वाल्लाघवोपेतं न दुर्जरमित्यर्थ । वन्येत्यत्र साध्वर्थे यत्, भवार्थे तु वन शब्दस्य नद्यादौ पठितत्वात् ढक् स्यात्, तथा च वानेयेति रूपं स्यात्। यद्वा तत्तस्मिन्नर्थे दिगादित्वात् यत्। ' वन्यं वनभवे वन्यो, वनवारिसमूहयो" इति विश्वप्रामाण्याच्च ॥ १३ ॥

काऽत्र प्रीतिस्तव नगवने चारुतद्द्वारिकाया—

स्त्यक्त्वोद्यानं युवयदुजनोन्मादि यत्रासुरारिः ।

निर्जित्येन्द्रं ससुरमनयत्पारिजातं द्युलोकाद्,

दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥ १४ ॥

हे नाथ ! द्वारिकायाश्चारु-मनोहर तत् उद्यानं त्यक्त्वा अत्र नगवने-गिरिविपिने तव का प्रीति ? क आनन्द ? येनात्र निवसतीति। किंभूतमुद्यानं ? 'युवयदुजनोन्मादि' युवानस्तरुणा ये यदुजनास्तानुन्मादयतीति यत्तत्तथा ।। कुत्रचित् 'युवयदुमनोन्मादीति पाठस्तत्र मनशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्तीति अवचूर्णौ । तदिति किं ? यत्रोद्याने असुरारिर्गोविन्दः ससुरममरसहितमिन्द्रं-शक्रं

निर्जित्य द्युलोकात्-स्वर्लोकात्पारिजातं-कल्पवृक्षमनयत्प्रापयत् । असुरारिः किंकुर्वन्? पथि मार्गे दिङ्नागानां स्थूलहस्तावलेपान्-पीवरशुण्डादण्डप्रहारान् पीवरहस्तसंस्पर्शानिति 'वृत्त्यन्तरे' परिहरन् -परित्यजन् ॥ १४ ॥

यत्प्रागासीदमलविलसद्भूषणाभाभिरामं,
भात्यारोहन्नवघनजलोद्भिन्नवल्लीचयेन ।
तत्ते नीलोपलतटविभाभिन्नभासाऽधुनाङ्गं,
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १५ ॥

हे नाथ! ते-तव यदङ्गं-वपु प्राक् गृहनिवासे 'अमलविलसद्भूषणाभाभिरामं' अमलानि-निर्मलानि विलसन्ति-शोभमानानि यानि भूषणानि-मौलिकुण्डलकेयूरादीनि तेषां या आभा-कान्तिस्तया अभिरामं-मनोहरमासीत् । तदङ्ग अधुना वनवासप्रस्तावे 'आरोहन्नवघनजलोद्भिन्नवल्लीचयेन' आरोहन्नूर्द्ध्वमाक्रामन् नवघनजलोद्भिन्नो-नूतनमेघपानीयप्ररूढो यो वल्लीचयो-वीरुत्समूहस्तेन भाति शोभते । निःसङ्गत्वात् परितो वपुर्वेष्टयन्त्योपि वीरुल्लता नापनीयन्त इत्यर्थः । किंभूतेन? 'नीलोपलतटविभाभिन्नभासा' नीलोपला नीलमणयस्तैर्विभूषितं यत्तटं तस्य विभा-कान्तिस्तया भिन्ना-आश्लिष्टा भा यस्य स तेन । कस्येव? विष्णोरिव-श्रीवासुदेवस्येव । कथंभूतस्य? गोपवेषस्य-गोपालवेषधारिणः । केन? बर्हेण-मयूरपिच्छेन । किंभूतेन? स्फुरितरुचिना-उल्लसितकान्तिना, यथा गोपवेषस्य-विष्णोः श्यामं वपुर्बर्हेण शोभते, तथा सम्प्रति तवाप्यङ्गं आरोहद् व्रतति जालेन राजते ॥ १५ ॥

रम्याहर्म्यैः क्व तव नगरी दुर्गभृङ्ग क्व चाद्रिः,
क्वैतत्काम्यं तव मृदुवपुः क्व व्रतं दुःखचर्य्यम् ।
चित्तग्राह्यं हितमितिवचो मन्यसे चेन्ममालं,
किंचित् पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥ १६ ॥

हे नाथ ! हर्म्यैर्धनिनां गृहैः रम्या-मनोहरा तव नगरी द्वारिका क्व ? पुनरद्रिरुज्जयन्त क्व ? क्वेति महत्यंतरे। किंभूतोऽद्रिः ? 'दुर्गशृंग' दुर्गाण्यतिविषमाणि शृंगाणि-कूटानि यस्य स। तथा तव एतत्काम्यं च कम्रं मृदु सुकुमारं वपुः-शरीरं क्व ?। एतद् दुःखचर्यं-दुःखेन चर्यतेऽनुपाल्यत इति दुःखचर्यं दुःखानुष्ठेयं व्रतं क्व ?। हे नाथ ! इति पूर्वोक्तं चित्तग्राह्यं मनोभिलषणीयं हितं आयत्युपकारकं मम चेद्वचः किंचिन्मनाक् मन्यसे-चेतस्यालोचयसि, तर्हि भूयः पुनर्लघगति शीघ्रगमनः सन्, पश्चाद् द्वारिकायामेव व्रज-गच्छ। उत्तरेण प्रतिवचनेन अलं-पर्याप्तं तूष्णीं तत्रैवेहीति भावः ॥ १६ ॥

कुर्वन् पान्थांस्त्वरितहृदयान् संगमायाङ्गनाना-
मेनं पश्याधिगतसमयः स्वं वयस्यं मयूरम् ।
जीमूतोऽयं मदयति विभो ! कोऽथ वाऽन्योऽपि काले,
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७॥

हे विभो ! त्वं पश्य, अयं जीमूतो-मेघ. एनं-प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणं स्वं-निजं वयस्यं, मित्रं-मयूरं मदयति-प्रमोदयति। किंभूतस्त्वं ? 'अधिगतसमयः' अधिगतः-परिज्ञातः समयः-प्रस्तावो येन स, प्रस्तावविज्ञ इत्यर्थः। तथा जीमूतः किंकुर्वन् ? पान्थान्-पथिकान् अंगनानां-रमणीनां संगमाय-संयोगाय त्वरितहृदयान्-उत्सुकमनसः कुर्वन्-विदधत्। अथवा युक्तमेतत्, कः अन्योऽपि नीचोऽपि काले-अवसरे मित्रे-प्राप्ते सति विमुख.-पराङ्मुखो भवति-जायते। किंपुनर्यस्तथा तेन प्रकारेण उच्चैर्महात्मा भवति तस्य किं भण्यते? अतोऽयमपि महत्वात् स्वमित्रं मयूरं मदयतीति भावः ॥ १७ ॥

पूर्वं येन त्वमसि वयसा भूषितोऽङ्गे समग्रे,
तैस्तैः क्रीडारससुखसखैर्भव्यभोगैरिदानीम् ।
तत्तारुण्यं सफलय पुरीं द्वारिकामेत्य-शीघ्रं,
सद्भावार्द्रः फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥१८॥

हे नाथ ! येन वयसा त्वं पूर्वं समभ्रे अंगे भूषितो-मंडितः असि । तत्तारुण्यं यौवनं वयः इदानीं तैस्तैरेतद्वयसोपभोग्यैर्भव्य-भोगैः-प्रधानविषयविलासैः सफलय-कृतार्थय । किंभूतैः ? 'क्रीडारस-सुखसखैः' क्रीडारसस्य-केलिरागस्य यत्सुखं तत्सखैस्तत्सहायैः । किंकृ-त्वा ? शीघ्रं द्वारिकां-पुरीमेत्य-आगत्य । किंभूतस्त्वं ? 'सद्भावार्द्रः' स्वभावेन सकरुणः, यतः कारणात् महतां विषये उपकारः न चिरेण फलति ? अपितु तत्कालमेव फलति ॥ १८ ॥

किं शैलेऽस्मिन् भवति वसतो न व्यथा कापि चित्ते
संत्यज्य स्वां पुरमनुपमां द्योतते नाथ ! यस्याः ।
त्वत्सौधेनासितमणिमयाग्रेण हैमोऽग्रवप्रो,
मध्येश्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१९॥

हे नाथ ! यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तां अनुपमां-अनन्यसदृशीं स्वां पुरं संत्यज्य अस्मिन्शैले रैवतकाख्ये वसतस्तव किं चित्ते कापि व्यथा-पीडा न भवति- न जायते ? । यस्या द्वारिकाया 'असितमणिम-याग्रेण' असितमणिमयानि-नीलमणिप्रधानान्यग्राणि यस्य तत्तेन त्वत्सौधेन त्वन्मंदिरेण, 'हैमः' हिमस्य-तुषारस्यायं विकारो हैमः, अग्रवप्रो-अग्रप्राकारः । उत्प्रेक्षते भुवः-पृथिव्याः स्तन इव । किंभूतः स्तनः ? मध्ये श्यामः-अन्तर्नीलवर्णः । पुनः किंभूतः ? शेषविस्तार-पाण्डुः-परित आभोगपांडुः । किल स्तनो हि मध्ये श्यामः शेष-विस्तारपांडुर्भवति तथाऽत्रापि त्वदीय सौधमंतः श्यामं परितो हैम-वप्र, शेषविस्तार पांडुरिति ॥ १९ ॥

यामालोक्य स्वगृहगमनायोत्सुकाः स्युस्त्वदन्ये,
पश्याऽऽकाशे जलदपटलेऽस्मिन्बलाकावलीन्ताम् ।
अन्तर्विद्युत्स्फुरितरुचिरे सुप्रकाशेन्द्रचापे,
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ २० ॥

हे नाथ ! अस्मिन् जलदपटले-मेघमालायां तां वलाकावलीं-वकपंक्तिं पश्य-वीक्षस्व । तामिति कां ? यां वलाकावलीं आलोक्य त्वदन्ये-त्वद्भवतोऽन्ये, त्वदन्ये स्वगृहगमनाय-निजमंदिरप्राप्त्यर्थमुत्सुकाः स्युर्भवन्ति । एकस्त्वमेव स्वगृहगमनायोत्सुको नासि, परमन्ये सर्वेप्युत्सुका भवन्तीत्यर्थः । किंभूते जलदपटले? 'अन्तर्विद्युत्स्फुरितरुचिरे' अन्तर्मध्ये यद्विद्युत्स्फुरितं तेन रुचिरे-प्रधाने । पुनः किंभूते ? 'सुप्रकाशेन्द्रचापे' सुप्रकाशः-शोभनप्रकाश इन्द्रचाप-इन्द्रधनुर्यस्मिन् तत्तस्मिन् वलाकावलीं, कामिव उत्प्रेक्ष्यते ? गजस्यांगे भक्तिच्छेदैः-विच्छित्तिविभागैर्नागवंधादिचित्रविशेषैर्विरचितां भूतिमिव-भस्मेव । अत्र जलदपटलस्य गजोपमावलाकावल्याभूतिसमानतेति भावार्थः ॥२०॥

युक्तं लक्ष्म्यामुदितमनसो यादवेशाः सभाया-
मासीनं यं निजपुरि चिरं त्वामसेवन्त पूर्व्वम् ।
सम्प्रत्येकः श्रयसि स नगं नाथ ! किं वेत्सि नैवं,
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ २१ ॥

हे नाथ ! यं त्वां राज्यश्रिया-राज्यलक्ष्म्या युक्त-सहित निजपुरि-द्वारिकायां सभायामासीनं सन्तं । पूर्वं यादवेशा.-विष्णुवलभद्रादयः असेवन्त-अभजन्त । किंभूतास्ते ? मुदितमनस-हृष्टहृदया. । सम्प्रत्यधुना स त्वं हे नाथ ! एक अनुचरादिवियुक्तो नगं-रैवतकशैलं श्रयसि, अतः किं नैव वेत्सि ? यत् हि यस्मात् कारणात् सर्वोऽपि रिक्तोऽन्तः-साररहितो लघुरल्पतुलनो भवति, पूर्णता गौरवाय कल्प्यते । अत्र प्रस्तुतार्थमाश्रित्य सर्वोऽपि हि रिक्तो-निर्द्रव्यो लघुर्विमानतास्पदं भवति । पूर्णता-विभववत्ता हि गौरवाय मान्यता हेतुरिति ॥ २१ ॥

मुक्तातङ्कास्तव यदुविभो ! जिह्वयाङ्गं लिहन्तः,
संक्रीडन्ते शिशव इव येऽङ्के समाधिस्थितस्य ।

संप्रत्येते पुरमभियतो विप्रयोगेण नेत्रैः,
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ २२ ॥

हे यदुविभो । श्रीनेमे । तवांके-उत्सङ्गे ये सारंगा मृगा शिशव इव स्तनंधया इव संक्रीडन्ते-रमन्ते । किंभूता सारंगाः ? मुक्तातंकाः-परित्यक्तभयाः अवधकत्वात्तवेति । पुनः किंभूताः ? जिह्वया तवांगे वपुर्लिहन्तः-आस्वादयन्तः । किंभूस्य भवत. ? 'समाधिस्थितस्य' समाधिश्चित्तस्वास्थ्यं तस्मिन् स्थितः समाधिस्थितस्तस्य, संप्रति-अधुना अन्तःपुरं-शुद्धान्तं अभियतो-द्वारिकाया अभिमुखं गच्छतस्तव-ते सारंगा मार्गं सूचयिष्यन्ति-परस्परं कथयिष्यन्ति । अनेन पथा श्रीनेमिरस्माकं विश्रम्भास्पदं प्रस्थित, परमस्माभिर्भाग्यहीनैर्न दृष्ट इति । किंभूतास्ते ? विप्रयोगेण-त्वद्विरहेण नेत्रैर्लोचनैर्जललवमुचः-अश्रुबिंदुवर्षिण तद्रोदनादेव त्वद्गमनमार्गावगमो भविष्यतीति भावः॥२२॥

एतत्तुङ्गं त्यज शिखरिणः श्रृङ्गमङ्गीकुरु स्वं,
राज्यं प्राज्यं प्रणयमखिलं पालयन् बन्धुवर्गम् ।
रम्ये हर्म्ये चिरमनुभव प्राप्यभोगानखंडान्,
सोत्कण्ठानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥ २३ ॥

हे नाथ । त्वं एतत्तुगंम्-उच्चैस्तर शिखरिणो-गिरेः शृंगम्-शिखरं त्यज । तथा स्वं-निजं प्राज्यं-प्रभूतं गजाश्वादिभिर्बहुलं राज्यमगीकुरु-स्वायत्तीकुरु । किंकुर्वन् ? प्रणय-प्रणयतीति प्रणयं "पचादित्वादच्" अखिलं-समस्तं बंधुवर्गं-स्वजनसमुदायं पालयन् । तथा तत्र चिरं-चिरकालं रम्ये-साधुनि हर्म्ये मंदिरे अखण्डान्-अन्यूनान् भोगान् प्राप्य सोत्कण्ठानि-उत्कण्ठयुक्तानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिगितानि-अनुभवप्रिया वल्लभाः या. सहचर्यस्तासां संभ्रमेण-राभस्येन यान्यालिंगितानि तानि उपभुंक्ष्व । तत्र सुखेन त्वं तिष्ठेत्यर्थः ॥२३॥

धूतानिद्राऽर्जुनपरिमलोद्गारिणः पान्थसार्थान्,
ये कुर्वीरन् जलदमरुतो वेश्मसंदर्शनोत्कान् ।
तैः संस्पृष्टो विरहिहृदयोन्माथिभिः स्वां पुरीं न,
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गंतुमाशु व्यवस्येत् ॥२४॥

हे नाथ ! ये जलदमरुतो-मेघवायवः पांथसार्थान्-पथिकसमूहान् वेश्मसंदर्शनोत्कान्-गृहालोकनोत्सुकान् कुर्वीरन् । किंभूता जलदमरुत ? 'धूतानिद्राजुर्नपरिमलोद्गारिण.' धूताः-कंपिता अनिद्रा-प्रफुल्ला ये अर्जुना-अर्जुनतरवस्तेषां परिमलमुद्गिरंतीत्येवंशीला धूतानिद्रार्जुनपरिमलोद्गारिणः तैरेव वायुभिः संस्पृष्ट-आश्लिष्टो भवान्-त्वं आशु-शीघ्रं कथमपि महता कष्टेन स्वां पुरीं-द्वारिकां प्रत्युद्यातः-कृताभ्युत्थानः सन्, गन्तुं न व्यवस्येत्-न व्यवसायं विदध्यात् ? अपितु कुर्यादेव । किंभूतैस्तैः ? 'विरहिहृदयोन्माथिभिः' विरहिहृदयानि-वियोगि चेतांसि उन्मथ्नंतीत्येवंशीला विरहिहृदयोन्माथिनस्तैः ॥२४॥

नोत्साहस्ते स्वपुरगमने चेद्विमुक्ता त्वयाऽहं,
वृद्धावेतौ तव च पितरौ तज्जनास्ते त्रयोऽमी ।
म्लानास्याब्जाः कलुषतनवो ग्रीष्मतोयाशयाभाः,
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥२५॥

हे नाथ ! स्वपुरगमने चेद्यदि ते-तव नोत्साहो-नोत्कण्ठा, तदा अहं-राजीमती च पुनरेतौ वृद्धौ स्थविरौ पितरौ-शिवासमुद्रविजयाभिधौ तज्जनास्तयोः पित्रोर्जना. सेवकलोकास्तेऽमी त्रयस्त्वया श्रीनेमिना वियुक्ताः-वियोगिनः संतो ग्रीष्मतोयाशयाभाः-निदाघजलाश्रयाभाः संपत्स्यन्ते-भविष्यन्ति । किंभूतास्ते त्रय ? 'म्लानाब्जास्या.' म्लानानि-संकोचमासादितानि अब्जानीव आस्यानि मुखानि येषां ते । ग्रीष्मतोयाशयपक्षे तु-म्लानान्यब्जान्येवास्यानि येषां त इति । पुन.

कथंभूताः ? कलुषतनवः-कलुषास्त्वद्वियोगेन स्नानाद्यकरणान्मलिनास्तनवः शरीराणि येषां ते । ग्रीष्मे जलाशया अपि जलशोषात् कलुषास्तनवश्चापृथुला एव भवन्तीति । पुनः किंभूताः ? कतिपयदिनस्थायिहंसाः-कतिपयदिनस्थायिनो हंसा-आत्मानो येषां ते, त्वद्विरहादेव । ग्रीष्मजलाशयपक्षे तु कतिपयदिनस्थायिनो हंसा-राजहंसा यत्रेति । पुन किंभूता ? 'दशार्णाः' दशेति- दशसंख्याका. प्राणा ऋणं देयं येषां ते दशार्णा., त्वद्विरहे दशापि प्राणान् त्यक्ष्यन्तीत्यर्थः । जलाशयपक्षे तु-दशार्णा दशसम्बन्धिनो दशार्णा. । इति व्याख्यालेशः ॥ २५ ॥

तन्नः प्राणानव तव मतो जीवरक्षैव धर्म्मो,
वासार्थं वः सुरविरचितां तां पुरीमेहि यस्याः ।
वप्रप्रान्ते स्फुरति जलधेर्हारि वेलारमण्य.:,
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ २६ ॥

हे नाथ ! यत्तदोर्नित्यसंबन्धाद्यद्यस्माद्धेतोस्तव जीवरक्षैव सकलजगज्जन्तुपालनमेव धर्म्मो मतोऽभीष्टस्तत्तस्माद्धेतोर्नः अस्माकं प्राणान्-असून् अव रक्ष । तद्रक्षणमपि द्वारिकामप्राप्तस्य भवतो न भवतीत्यत आह-ता सुरविरचितां शक्रादेशाद्धनदनिर्म्मितां पुरीं-द्वारवतीं वासार्थं-निवासनिमित्तमेहि-आगच्छ । तामिति कां ? यस्याः पुर्य्या वप्रप्रान्ते-प्राकारपर्यन्ते जलधेर्लवणसमुद्रस्य पयः-पानीयं स्फुरति-शोभते । पय. किमिव ? 'वेला रमण्याः' वेला-अम्भसो वृद्धिः. सैव रमणी-स्त्री तस्या उत्प्रेक्ष्यते-सभ्रूभङ्गं-भ्रूभंगसहितं मुखमिव । किंभूताया वेला रमण्याः ? वेत्रवत्या -वेत्रलता युक्ताया. । किंभूतं वारि ? हारि-मनोहरं । पुनः किंभूतं ? चलोर्म्मिचला ऊर्मयो यत्र तत्तथा ॥ २६ ॥

अस्मादद्रेः प्रतिपथमधः संचरन् दानवारेः,
क्रीडाशैलं विमलमणिभिर्भासुरं द्रक्ष्यसि त्वम् ।

अन्तःकान्तारतरसगलद्भूषणैर्यो यदूना-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ २७ ॥

हे नाथ ! त्व अस्मात् रैवतकादद्रेः सकाशात्प्रतिपथं-प्रतिमार्गं अध संचरन्-नीचैर्गच्छन्। दानवारेर्विष्णोर्यच्छन्दस्तच्छन्दमपेक्षत इति, तं क्रीडाशैलं-क्रीडापर्व्वतं द्रक्ष्यसि-अवलोकयिष्यसि । किंभूतं क्रीडाशैलं ? विमलमणिभिर्निर्म्मलरत्नैर्भासुरं देदीप्यमान, य क्रीडाशैलो यदूनां यादवानां उद्दामानि-उत्कटानि यौवनानि-तारुण्यानि शिलावेश्मभिर्पाषाणगृहैः प्रथयति-विस्तारयति । किंभूतैस्तैः ? 'अन्त कान्तारतरसगलद्भूषणैः' अन्त -शिलागृहाणां मध्ये कान्तानां-स्त्रीणां रतरसेषु-संभोगलीलासु गलंति-पतन्ति भूषणानि येषु तानि तैस्तत्रागतानां वहुल कामिनां कामिन्यनुरागो जायत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

तस्योद्याने वरतरुचिते त्वं मुहूर्तं श्रमार्त्त-
स्तिष्ठेस्तुष्टो विविधतदुपानीतपुष्पोपहारैः ।
मुष्णन्नन्तश्चिरपरिमलोद्गारसारं स्मितानां,
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥२८॥

हे नाथ ! त्वं श्रमार्त्तस्तस्य क्रीडाशैलस्योद्याने-वने मुहूर्तं-क्षणं यावत्तिष्ठेः-श्रमापनोदं कुर्याः । किंभूते उद्याने ? 'वरतरुचिते' वराः-प्रधाना ये तरवो-माकन्दशालप्रियालादयस्तैश्चितं-व्याप्तं तस्मिन्। किंभूतस्त्वं ? 'विविधतदुपानीतपुष्पोपहारैर्विविधा-नानाप्रकारास्तदुपानीतास्ताभिः पुष्पलावीभिरुपानीता-उपढौकिता ये पुष्पोपहाराः कुसुमोपायनानि तैस्तुष्टो-हृष्ट । पुनः किंभूतः ? स्मितानां-हसितानां पुष्पलावीमुखाना-पुष्पाणि लुनन्तीति पुष्पलाव्यः, "कर्मण्यण्" अणन्तिति-ङीप्, कुसुमोच्चयकारिण्यस्तासां मुखानि पुष्पलावीमुखानि तेषां छायादानात्-शोभावितरणात् 'क्षणपरिचित' क्षणं मुहूर्त्तं यावत् साभिलाषावलोकनात् अभ्यस्तः । त्वं किं कुर्वन् ? अंतर्वनस्य मध्ये चिर-

परिमलोद्गारसारं मुष्णन्-हरन् , तत्सुरभिगन्धाघ्राणं कुर्वन्नित्यर्थः ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा रूपं तव निरुपमं तत्र पीनस्तनीनां,
तासामन्तर्मनसिजरसोल्लासलीलालसानाम् ।
कर्णाम्भोजोपगतमधुकृत् सम्भ्रमोद्यद्विलासै-
र्लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोसि ॥ २९॥

हे नाथ ! तत्र क्रीडाशैले तासां पीनस्तनीनां-पीवरपयोधराणां लोचनैर्यदि चेत्त्वं न रमसे तदा वञ्चितोसि-जन्मफलवन्ध्योऽसीति तात्पर्यं । किंभूतानां तासां ? तव निरुपमं-अत्यद्भुतं रूपं दृष्ट्वा 'अन्तर्मनसिजरसोल्लासलीलालसानां' अन्तश्चित्ते मनसिजस्य-कामस्य यो रसस्तस्य या उल्लासलीला तया अलसा-मंथरा यास्तास्तासां । किंभूतैर्लोचनैः ? 'कर्णाम्भोजोपगतमधुकृत्सम्भ्रमोद्यद्विलासैः' कर्णाम्भोजेषु उपगताः प्राप्ता ये मधुकृतो-भ्रमरास्तेषां संभ्रमो भयं तेनोद्यंत-उदय प्राप्नुवन्तो, विलासा येषु तानि तैः । पुन. किंभूतैर्लोलापांगैश्चञ्चलनेत्रान्तै. लोलापांगतया च नयनानां विशेषसौन्दर्य्यमाविःकृतम् ॥ २९ ॥

तस्मिन्नुद्यन्मनसिजरसाः प्रांशुशाखावनाम-
व्याजादाविःकृतकुचवलीनाभिकाञ्चीकलापाः ।
संधास्यन्ते त्वयि मृगदृशस्ता विचित्रान् विलासान्,
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ ३० ॥

हे नाथ ! तस्मिन् क्रीडाशैले मृगदृश सीमंतिन्यस्त्वयि भवति विचित्रान्-विविधान् विलासान्-नेत्रावलोकनविशेषान् सधास्यन्ते-संयोद्यन्ते । किंभूतास्ता ? 'उद्यन्मनसिजरसा' उद्यन्-प्रकटीभवन् मनसिजरस'-कामरागो यासु तास्तथा । पुन किंभूता ? 'प्रांशुशाखावनामव्याजात्' प्रांशव उच्चैस्तरा याः शाखास्तासां योऽवनामो-

नीचैर्नामनं तस्य यो व्याजो-मिषं तस्मात् । 'आविःकृतकुचवलीनाभिकांचीकलापा.' आविःकृत -प्रकाशित. कुचानां वलीनां नाभीनां कांचीनां च कलापो याभिस्ताः । हि-यस्मात् स्त्रीणां प्रियेषु-वल्लभेषु विभ्रमो-विलास आद्यं प्रणयवचनं-प्रथमं प्रार्थनावाक्यं तथा चानेकार्थः-"प्रणय. प्रेमयाञ्चयो" रिति । किल विलासिन्यस्तदनुरक्तांतः करणप्रवृत्त्या रतिसुरतसम्भोगाभिलाप विभ्रमैरेवाविर्भावयन्ति, न वचसा भर्तुः प्रार्थनां विदधतीति भाव. ॥ ३० ॥

त्वां याचेऽहं न पथि भवता क्वापि कार्यो विलम्बो,
गन्तव्यातः सपदि नगरी स्वा यतः सा त्वदम्बा ।
मुक्ताहारा सजलनयना त्वद्वियोगार्त्तिदीना,
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥३१॥

हे नाथ ! अहं त्वां याचे-अर्थयेयम् । भवता-त्वया-पथि मार्गे क्वापि विलासार्हे नगादौ न विलम्बो-न कालक्षेपः कार्यः, अत. स्वा-स्वकीया नगरी सपदि-शीघ्रं गन्तव्या । यतो-यस्माद्धेतो. सा त्वदम्बा-त्वन्माता शिवा राज्ञी येन विधिना-येनोपायेन कार्श्यं-दौर्बल्यं त्यजति, त्वया स एव विधिरुपपाद्य.-करणीय । 'एवेन च अवधारणे' त्वदधीनजीवितत्वात्तस्याः नान्य प्रीतिकारक इति । अतः स्वगमनेन तस्यास्तुष्टिर्विधेयेति भाव । किंभूता सा ? 'मुक्ताहारा' मुक्तस्त्यक्तस्त्वद्विरहेण आहारो यया सा मुक्ताहारा । पुन. किंभूता ? 'सजलनयना' सजले साश्रुणी नयने-नेत्रे यस्याः सा तथा । पुनः किंभूता ? 'त्वद्वियोगार्त्तिदीना' त्वद्वियोगेन-त्वद्विरहेण या अर्त्तिः-पीडा तया दीना-वैमनस्यं प्राप्ता ॥ ३१ ॥

तस्याधस्ताद्विपमपुलिनां स्वर्णरेखामतीतो,
मार्गे द्रष्टा पुरमनुपमां तां भवान् वामनस्य ।
भुक्त्वा भोगोपचयमवनिं नाकिनामागतानां,
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥३२॥

हे नाथ । भवान्-त्वं तस्याद्रेरधस्तादुपत्यकायां 'विषमपुलिनां' विषमं निम्नोन्नतं पुलिनं-तट यस्या सा तां । स्वर्णरेखामतीतोतिक्रान्तः सन् , तां-अनुपमां गरिष्ठां वामनस्य-वामनावतारस्य हरेः पुरं-नगरं मार्गे द्रष्टा-द्रक्ष्यसि । उत्प्रेक्ष्यते-भोगोपचयं-भोगप्रौढिमाणं भुक्त्वा अवनि-पृथ्वीमागतानां नाकिनां स्वर्गिणां शेषैः स्वर्गोपभुक्तावशिष्टैः पुण्यैर्हृतमानीतं दिव-स्वर्गस्य कान्तिमत्कान्तियुक्त एकमुत्कृष्टं खण्डमिव । तथाविधाद्भुतसमृद्धिमतीं तामवलोक्य लोकैर्भूलोकपुरीयं न भवति, किन्तु स्वर्गविभाग एव, भाग्यैर्भुवं प्राप्त इत्युत्प्रेक्षत इति । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३२ ॥

यस्यां सान्द्रानुपवनलतावेश्मसु स्वेदबिन्दून्,
मुष्णन्नङ्गात्सुरतजनितानुज्जयन्तीं विगाह्य ।
कुर्वन्तीरे विगलितपटाः सेवते वारनारीः,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारी ॥३३॥

हे नाथ । यस्यां नगर्यां शिप्रावात'-शिप्रावन्तीनिकटतटिनी तस्या मरुत्-वायुर्वारनारीर्वेश्याः सेवते । किंकृत्वा ? उज्जयन्तीं विगाह्य-अवंतीमासाद्य-प्राप्येत्यर्थः । किंकुर्वन् ? 'उपवनलतावेश्मसु' वनानामुपसमीपे इति उपवनं, उपवनं या न लतावेश्मानि वीरुद्गृहा उपवनलतावेश्मानि तेषु, अंगाच्छरीरात् सान्द्रान्-घनान् सुरतजनितान्-सम्भोगोत्पादितान् स्वेदबिन्दून्-परिस्वेदजलकणान् मुष्णन्-हरन् अपनयन्नित्यर्थः । शिप्रावातः किंकुर्वन् ? वारनारीर्विगलितपटाः कुर्वन्-अपनीतवसना विदधत् । क इव ? प्रियतम इव । यथा कश्चित् प्रियतमः कस्याश्चिन्नायिकाया सुरतग्लानिं हरति कामुकत्वाच्च तस्या वासांस्यपनयति । तथायमपीति । किंभूतः शिप्रावातः ? प्रियतमः अंगानुकूलः, पुटपुटिकादानेन प्रियाशरीरावयवसुखप्रदः । किंभूत. प्रियतमः ? 'प्रार्थनाचाटुकारी' प्रार्थनया चाटुकरोति प्रार्थनाचाटुकारी ॥ ३३ ॥

यत्र स्तम्भान्मरकतमयान्देहलीं विद्रुमाणां,
प्रासादाग्रं विविधमणिभिर्निर्मितं वामनस्य ।
भूमिं मुक्ताप्रकररचितस्वस्तिकां चापि दृष्ट्वा,
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥ ३४ ॥

हे नाथ ! यत्र यस्यां पुर्य्यां मरकतमयान्हरिन्मणिप्रधानान्स्तम्भान् चापीत्यतश्च शब्दः सर्वत्र संयोज्यते । विद्रुमाणां-प्रवालानां देहलीं च तथा विविधमणिभिर्नानारत्नैर्निर्मितं वामनस्य-विष्णोः प्रासादाग्रं च-भूपमन्दिरशिखरं, तथा मुक्ताप्रकररचितस्वस्तिकां भूमिं-पृथ्वीं चापि दृष्ट्वा सलिलनिधयः-समुद्रास्तोयमात्रावशेषाः संलक्ष्यन्ते-निश्चीयन्ते । सर्व्वमणिमौक्तिकादीनां तद्गृहोपयोगाय प्रवर्तितत्वादित्यर्थः ॥ ३४ ॥

अत्रात्युग्रैः किल मुनिवरो वामनः प्राक्तपोभि-
र्लब्ध्वा सिद्धिं सकलभुवनव्यापिना विग्रहेण ।
ईशं वासं भुजगसदने प्रापयद्दानवाना-
मित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥३५॥

हे नाथ ! यत्र नगर्य्यां अभिज्ञश्चतुरो जनो-लोक आगन्तून्-बहिर्देशादागतान् प्राघूर्णकान् बन्धून्-स्वजनान् इत्यनुना प्रकारेण रमयति-विनोदयति । इतीति कथं ? किलेति सत्ये अत्र पुरे वामनो-वामनाकृतिमुनिवरः अत्युग्रैः-अत्युत्कटैः प्राक्तपोभिः सिद्धिं लब्ध्वा-प्राप्य निखिलभुवनव्यापिना सकलत्रिलोकीप्रसरणशीलेन विग्रहेण-वपुषा दानवानां-दैत्यानां ईशं-स्वामिनं बलिं भुजगसदने-पाताले वासं-निवासं प्रापयत्-अनयत् । इत्येवमागन्तून्जनो रमयतीति ॥ ३५ ॥

तामासाद्य प्रवरनगरीं विश्रुतां सन्निवासं,
कुर्याः पौरैर्नृवर ! विहितानेकपूजोपहारः ।

आस्तीर्णान्तर्विमलशयनेष्वग्रसौधेषु कामं,
नीत्वा खेदं ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ ३६ ॥

हे नृवर ! श्रीनेमे ! त्वं तां पूर्वोक्तां विश्रुतां-विख्यातां प्रवर-नगरीं-प्रधानपुरीमासाद्य-प्राप्य सन्निवासं कुर्य्याः। किंकृत्वा ? 'आस्तीर्णांतरविमलशयनेषु' आस्तीर्णानि-वासोभिः संवृतानि अन्तर्मध्ये विमलानि शयनानि-शय्या येषु तानि तेषु। अग्रसौधेषु-प्रकृष्टसप्तभूमिधवलगृहेषु कामं-स्वेच्छया खेदं नीत्वा अपनीय। किंभूतेष्वग्रसौधेषु ? 'ललितवनितापादरागांकितेषु' ललितानि-विलासांकिता या वनितास्तासां ये पादरागाश्चरणालक्तकास्तैरंकितानि यानि तानि तेषु, वात्स्यायनप्रणीतचतुरशीतिकरणकरणाधिष्ठितनवनिधुवनविलासलालसविलासिनी जनचरणालक्तकलाञ्छितेषु। किंभूतस्त्वं ? पौरैर्नागरिकैर्विहितानेकपूजोपहार. विहितः-कृतः पूजापहारः-वस्त्रादिदानोपचारो यस्मै स तथा ॥ ३६ ॥

उद्यानानामुपतट भुवामुज्जयन्त्याः समंता-
दातन्वद्भिर्विपुलविगलन्मालतीजालकानि।
अङ्गान्मार्गश्रमजलकणान्सेव्यसेऽस्यां हरद्भि-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३७॥

हे नाथ ! त्वं अस्यां पुर्य्यां उज्जयन्त्या-अवन्त्या 'उपतटभुवां' तटस्य शिप्रातटिनी संबंधिन उपसमीपे इति उपतटं, तत्र भूरुत्पत्तिर्येषां तानि तेषामुद्यानानां राजान्तःपुरक्रीडार्हाणां वनानां मरुद्भिर्वायुभिः समंतादतिशयेन सेव्यसे भज्यसे। किंकुर्वद्भिर्मरुद्भिर्विपुलविगलन्मालतीजालकानि विपुलानि-विस्तीर्णानि विगलन्ति मकरन्दं क्षरन्ति, यानि मालतीनां जालकानि-नवकलिकावृन्दानि तानि, आतन्वद्भिर्विस्तारयद्भिः। पुनः किंकुर्वद्भिः ? अंगात्-देहात् मार्गश्रमजलकणान्-वर्त्मखेदोत्पन्नपरिस्वेदबिन्दून् हरद्भिरपनयद्भिः। किंभूतैस्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः-तोयक्रीडायां-पानीयकेलौ निरता-

आसक्ता या युवतयस्तासां, यानि स्नानानि-स्नानीयचूर्णानि तैस्तिक्ताः-सुरभयस्तै. । तथा चानेकार्थे-"स्नानमाप्लवे स्नानीये च" ॥३७॥

तत्रोपास्यः प्रथितमहिमा नाथ । देवस्त्वयाद्यः
प्रासादस्थः क्षणमनुपमं यन्निरीक्ष्य त्वमक्ष्णोः ।
शृण्वन्प्रेक्षा मुरजनिनदान्वारिवाहस्य तुल्या-
नामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३८॥

हे नाथ ! त्वया तत्र पुर्यां प्रासादस्थो-देवगृहावस्थित' यत्तदोर्नित्ययोगात् स आद्यो देवः-श्रीऋषभजिन उपास्य -सेव्य । किंभूतो देवः ? 'प्रथितमहिमा' प्रथितो-विख्यातो महिमा-माहात्म्यं यस्येति । स इति क. ? यं जिनं क्षणं यावत्त्व निरीक्ष्यावलोक्य अक्ष्णोश्चक्षुषो. अविकलं-समस्तफलं लप्स्यसे प्राप्स्यसि । गीतवाद्यानामनन्तपुण्यहेतुत्वात् । किंकुर्वन् ? 'पूजामुरजनिनदान्' पूजार्थं ये मुरजनिनदा-मृदगध्वनयस्तान् शृण्वन्-श्रवणविषयी कुर्वन् । किंभूतांस्तान् ? वारिवाहस्य-मेघस्यामन्द्राणामासमंताद् गभीराणां-गर्जितानां तुल्यान्-सदृशान् ॥ ३८ ॥

त्वद्रूपेणापहृतमनसो विस्मयात्पौरनार्यः
सौन्दर्याधःकृत-मनसिजे राजमार्गं प्रयाति ।
प्रातस्तस्यां कुवलयदलश्यामलाङ्गे सलीला,
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥३९॥

हे नाथ ! तस्यां पुर्यां प्रात'-प्रभाते त्वयि राजमार्गं प्रयाति-गच्छति सति विस्मयादाश्चर्येण पौरनार्य्य -पौरस्त्रियःकटाक्षान् नामोक्ष्यन्ते ? अपित्वामोक्ष्यन्ते । किंभूतान् कटाक्षान् ? मधुकरश्रेणि-दीर्घान्-भ्रमरपंक्तिवद्गुरुतरान् । किंभूते त्वयि ? 'सौन्दर्य्याधःकृतमनसिजे' सौन्दर्येण-शरीरसौभाग्येन अध.कृतस्तिरस्कृतो मनसिजः-कामो येन स तस्मिन् । पुन' किंभूते ? 'कुवलयदलश्यामलांगे' कुव-

लयदलवत्–नीलाम्भोजपत्रवत् श्यामं–नीलवर्णमंगं–वपुर्यस्य स तस्मिन् । किंभूताः पौरनार्य्यः ? त्वद्रूपेण–त्वदीयरूपेण अपहृतमनसः-अपहृतं मनो यासां तास्तथा । पुनः किंभूताः ? सलीलाः-लीलया सहिताः ॥ ३६ ॥

तस्याः पश्यन् वरगृहततिं तां व्रजेर्द्यां स्पृशन्ती-
मैक्यं प्राप्यासितरजनिषु प्रस्फुरद्रत्नदीपाः ।
प्रद्योतन्ते निहततिमिरव्योममार्गश्च लोकैः,
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥४०॥

हे नाथ ! त्व तस्या नगर्य्यास्तां वरगृहततिं-प्रधानमन्दिरश्रेणिं पश्यन्–अवलोकयन् व्रजेर्गच्छेः । किंभूतस्त्वं ? 'भवान्' भातीति भवान्, "भाक् दीप्तौ, भातेर्डवतु" रिति डिद्वत् प्रत्ययः । किंभूतां तां ? ऐक्यमुच्चैस्तरत्वादेकात्मकतां प्राप्य द्यामाकाशं स्पृशन्तीमाश्लिष्यन्तीं 'तच्छब्दो यच्छब्दमपेक्षत' इति वचनात् । यस्यां वरगृहततौ असितरजनिषु-कृष्णपक्षीयरात्रिषु, प्रस्फुरद्रत्नदीपाः-प्रस्फुरन्ति-देदीप्यमानानि रत्नान्येवदीपाः प्रस्फुरद्रत्नदीपाश्च पुनर्व्योममार्गश्च प्रद्योतंते-दीप्यन्ते । कथं ? निहततिमिरं-प्रध्वस्तान्धकारं यथा स्यात्तथेति । अत्र भवानिति विशेषणं व्योममार्गस्य वा संयोज्यं, स भवान्-नक्षत्रवान् भवतीति तात्पर्यार्थः । तथा या वरगृहततिर्लोकैः-पौरैर्जनैर्दृष्टभक्तिर्दृष्टाभक्तिर्विच्छित्तिर्यस्यां सा गणकृतमनित्यमिति न्यायात् पुंवद्भाव । कथं ? यथा भवति 'शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं' शान्तोपगता य उद्वेगस्तेन स्तिमिते-निश्चले कौतुकालोकनोत्सुक्तया नयने यत्र तत्तथा ॥ ४० ॥

पौरैस्तस्या रथमुपहृतं रम्यमास्थाय यान्तं,
द्रष्टुं ग्राम्याः पथि युवतयस्त्वामुपैष्यन्ति तस्मात् ।
शब्दैश्चक्रस्खलदुपलजैरर्थिसार्थे कृतश्री—
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः ॥४१॥

हे नाथ ! तस्याः पुर्याः पौरैः रम्यं-मनोहरं उपहृतमुपानीत रथमास्थायमारुह्य यांतं त्वां द्रष्टुं पथि मार्गे ग्राम्या युवतयः-स्त्रिय उपैष्यन्ति-आगमिष्यन्ति । तस्माद्धे स्वामिन् ! 'चक्रस्खलदुपलजैः' चक्रेषु-रथांगेषु स्खलन्तः-संश्लेषमासादयन्तो ये उपला-दृषदस्तेभ्यो जाताश्चक्रस्खलदुपलजास्तैः शब्दैः स्तनितमुखरो मा स्म भूः-अति परुषध्वनिं मा कृथाः । तस्मादिति किं ? यस्मात्ता ग्राम्या स्त्रियो विक्लवाः-स्वभावविह्वलाः वर्तन्ते । किंभूतस्त्वं ? अर्थिसार्थे-याचकसमूहे, कृतश्रीतोयोत्सर्गः-श्रिय एव तोयानि श्रीतोयानि कृतः श्रीतोयानामुत्सर्गो वितरणं येन सः ॥ ४१ ॥

त्वामायान्तं पथि यदुवराः केशवाद्या निशम्य,
प्रीता बन्धूंस्तव पितृमुखान्सौहृदान्नन्दयन्तः ।
साकं सैन्यै रथमभिमुखं प्रेषयिष्यंति तूर्णं,
मंदायंते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ ४२ ॥

हे नाथ ! यदुवरा-यादवश्रेष्ठा केशवाद्या-विष्णुप्रमुखा पथि-मार्गे त्वामायान्तमागच्छन्तं निशम्य श्रुत्वा प्रीता-हृष्टाः सन्तः, सैन्यैर्वाहिनीभिः साकं-सार्द्धं अभिमुखं-सन्मुखं तूर्णं-झटिति रथं-स्यन्दनं प्रेषयिष्यन्ति-विसर्जयिष्यन्ति । मा रथमन्तरेण पद्भ्यामागच्छन्त्वत्मनि श्रान्त स्यादिति वितर्क्य रथं नेष्यन्तीति । यदुवराः किंकुर्वन्तस्तव पितृमुखान्समुद्रविजयश्रेष्ठान् बन्धून्सौहृदान् मैत्रीतो नन्दयन्त-प्रमोदयन्तो, यथा-भवत्पुत्रः श्रीनेमिरागच्छतीत्येवं वर्द्धापनिका दानेनेति यदर्थं त्वां प्रेषयिष्यन्तीत्येवं तद्युक्तं, खलु यस्मात्कारणात्सुहृदां-मित्राणां सम्बन्धित्वेनाभ्युपेतार्थकृत्या-पुमांसो न मन्दायन्ते । अभ्युपेतमङ्गीकृतं अर्थस्य-प्रयोजनस्य कृत्यं यस्ते तथा । येन मित्रकार्यं मया कर्त्तव्यमित्यंगीकृतं भवति, स खलु न मन्दायते नालस्यं भजतीति भावः । पितृमुखानित्यत्र 'मुखशब्दः' श्रेष्ठार्थः । यदनेकार्थः-"मुखमुपाये प्रारम्भे, श्रेष्ठे निस्सरणास्ययो" ॥ ४२ ॥

श्रुत्वा तीरे तदनु जलधेरागतं सोपहारो,
मान्यो मंत्री यदि बलपुराच्छीरिणस्त्वामुपैति ।
तस्यादेया स्वशयविहिता सत्क्रिया तेन चेत्स,
प्रत्यावृत्तस्त्वयि करुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४३॥

हे नाथ ! तदनु कियन्मार्गातिक्रमे त्वां जलधेः-समुद्रस्य तीरे-तटे आगतं श्रुत्वा, यदि चेद्बलपुरात्सीरिनगरात्सीरिणो-बलभद्रस्य मान्यो—गौरवार्हो मन्त्री सचिवः सोपहारः-सोपायन उपैति-आगच्छति । तदा तस्य मन्त्रिण स्वशयविहिता-स्वपाणिनिर्म्मिता सत्क्रिया-वस्त्रादिपूजा ते त्वया आदेया-ग्राह्या । युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीत्यादिषु विपरीतग्रहणात्कचिदन्यत्राप्यादेशः स्यादिति तृतीयायामपि ते इत्यादेशः । चेद्यदि स मन्त्री न प्रत्यावृत्त—न प्रतीष्टः कोर्थोनावर्जित इत्यर्थ । तदा त्वयि नाथे कररुधि तत्-करोपानीतढौकनावरोधकारिणि अनल्पाभ्यसूयः-ईर्ष्यालुः स्यादिति भविष्यति । वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वेति वचनात् ॥ ४३ ॥

गच्छेर्वेलातटमनु ततस्तोयमुल्लासिमत्स्यं,
त्वत्संकाशच्छविजलनिधेस्तस्य पश्यन्रथस्थः ।
यः कामीव क्षणमपि सरित्कामिनीनां न शक्तो,
मोघीकर्त्तुं चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि ॥४४॥

हे नाथ ! ततोनंतर वेलातटमनुलक्षीकृत्य तस्य जलनिधेः-सागरस्य तोयं पश्यन् त्वं रथस्थ-स्यन्दनारूढो गच्छेर्व्रजेः । किंभूतं तोय ? उल्लासिमत्स्यं उल्लासि मत्स्या यस्मिन् तत् तथा । पुनः किंभूतं ? 'त्वत्संकाशच्छवि—त्वत्संकाशा तव सन्निभाः छवि-कान्तिर्यस्य तत्तथा । तस्येति कस्य ? य समुद्र कामीव-कामुक इव सरित्कामिनीनां सरित एव-नद्य एव कामिन्यः सरित्कामिन्यस्तासां 'चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि' चटुलाश्चञ्चलाश्च ते शफरा—मत्स्याश्च

तेषामुद्वर्त्तनान्येव-प्रेक्षितान्यवलोकनानि तानि चटुलशफरोद्वर्त्तनप्रेक्षितानि, मोघीकर्त्तुं-विफलतां नेतुं क्षणमिव-क्षणमपि इव शब्दोप्यर्थः न शक्तो- न समर्थ । उद्वर्त्तनेन दृश्यमानमकरोदरदेशस्यातीवविभ्रमत्वात् । कामिपक्षेतु-कामिनीनां चटुलशफरोद्वर्त्तनवदिति समास सोपि तद्विभ्रमान्विफलयितुं न शक्नोतीति ॥ ४४ ॥

तां वेलांके विमलसलिलामागतां द्रक्ष्यसि त्वं,
पूर्वोद्दिष्टां सरितमसकृद्वारिधिर्वीचिहस्तैः ।
यामालिंग्योपरमति पिबन्यन्मुखं न क्षणार्द्धं,
लब्धास्वादो विपुलजघनां को विहातुं समर्थः ? ॥४५॥

हे नाथ ! त्वं वेलाङ्के-वेलोत्संग-आगतां-प्राप्तां तां-पूर्वोद्दिष्टां-पुरा प्ररूपितां स्वर्णरेखानाम्नीं विमलसलिलां-निर्मलजलां सरितं-नदीं असकृद्वारंवारं द्रक्ष्यस्यवलोकयिष्यसि । तामिति कां ? यां सरितं वीचिहस्तैर्वीचय एव हस्ता येषा ते तैर्वारिभिर्जलैरालिंग्याश्लिष्य यन्मुखं यस्या नद्यामुखमाननं यन्मुखं पिबन् । अपि शब्दोत्रानुक्तोप्यादिष्यते । क्षणार्द्धमपि न उपरमति-न निवर्त्तते । यतो लब्धास्वादः पुलिनजघनां-पुलिनमेव जघनं यस्याः सा तथा तां । अर्थान्तरे तु पुलिनवत्-पुलिनाकारं जघनमिति तां विहातुं-परित्यक्तुं कः समर्थः ? अपितु न कोपीति । उपरमतीत्यत्र "विभाषाऽकर्मकादिति" सूत्रेण उपाद्रमो वा परस्मैपदम् ॥ ४५ ॥

तस्मिन्नुच्चैर्दलितलहरीसीकरासारहारी,
वारांराशेस्तटजनिकसत्केतकामोदरम्यः ।
खेदं मार्गक्रमणजनितं ते हरिष्यत्यजस्रं,
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४६॥

हे नाथ ! तस्मिन् वेलातटे उच्चैरतिशयेन वारांराशेः-समुद्रस्य शीत- शीतलो वायुरजस्रं-निरंतर ते-तव 'मार्गक्रमणजनितं' मार्गस्य-

पथो यत्क्रमणं लंघनं तेन जनितं श्रमं हरिष्यति-अपनेष्यति । किंभूता वायु 'दलितलहरीसीकरासारहारी' दलिता-द्वैधीकृता या लहर्य्यः-कल्लोलास्तासा ये सीकरा-वातप्रेरिता जलकणास्तेषां, य आसारो-वेगवान्वर्षस्तेन हारी-रुचिरः ? पुन किंभूतः ? 'तटजविकसत्केतकामोदरम्य.' 'तटजानि-तीरोद्भवानि विकसंति प्रफुल्लानि यानि केतकानि-केतकीपुष्पाणि तेषां यः आमोदः परिमलस्तेन रम्यः-प्रधानः । पुनः किंभूतः ? परिणमयिता-पाचयिता । केषां ? काननोदुम्बराणां-काननोदुम्वरफलानां, अनेन तत्परिसरे वनराजिप्राचुर्य्यमुदुम्बराणि च घनागमसमये पच्यन्त इति व्यज्यते ॥ ४६ ॥

नाम्ना रत्नाकरमथ पुरस्त्वं व्रजेर्वीक्षमाणो,

जज्ञे यस्माद्भुवनभयकृत्तत्पुरा कालकूटम् ।

यत्रासाध्यं निवसति जगद्दाहदक्षं जलाना—

मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥४७॥

हे नाथ ! अथानन्तरं त्वं स्व-निजं यत्तदोर्नित्ययोगात्तन्नाम्ना रत्नाकरं पुर पुरो वीक्षमाणोऽवलोकमान व्रजेर्गच्छेः । तदिति किं ? यस्मात्पुरात्पुरा-पूर्वं भुवनभयकृत्त्रिलोकीभीतिविधायक तत्कालकूट-विपं जज्ञे-जातं । तदिति किं ? यत्र कालकूटे जलानां-अपां मध्ये असाध्य भक्षणानन्तरमप्रतीकार्यं । हि-निश्चितं तत्तेजो निवसति-आस्ते । तदिति किं ? यत्तेजः जगद्दाहदक्षं-जगतामपि दाहे दक्ष-प्रवीणं । पुनः किंभूतं ? अत्यादित्यं-आदित्यमतिक्रान्तं दिनकरादपि सातिशयमित्यर्थ । पुन. किंभूतं ? हुतवहमुखे सम्भृतं-न्यस्तं आरोपितमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

त्वामायान्तं तटवनचरा मेघनीलं मयूरा,

दृष्ट्वा दूरान्मधुरविरुतैस्तत्र ये संस्तुवन्ति ।

त्वं तान्नेमे ! ध्वनिभिरुदधेः सान्द्रितैः सन्निकृष्टः,

पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्चयेथाः ॥४८॥

हे नाथ ! तत्र वेलातटे तटवनचरास्तटवनेषु चरन्ति-विहरन्तीति तटवनचराः, ये मयूरा मेघनीलं-मेघवन्नीलवर्णं त्वामायान्तमागच्छंतं दूरात् दृष्ट्वा मधुरविरुतैः-श्रवणानुकूलध्वनिभिः स्तुवन्ति-वर्णयन्ति । तान्मयूरान् हे नेमे ! त्वं उदधेः-समुद्रस्य सान्द्रितैर्घनतां प्राप्तैर्गर्जितैर्गर्जितानीव गर्जितानि तैर्ध्वनिभिः कृत्वा सन्निकृष्टः मयूराणां समीपीभवन्सन्पश्चान्नर्त्तयेथाः । किंभूतैर्गर्जितैः ? अद्रिग्रहणगुरुभिः—गिरिगुहाश्रयसमुद्भूतप्रतिरवगम्भीरैः रयमर्थः-प्राक् त्वां मेघभ्रान्त्या दृष्ट्वा शिखिनः कूजिष्यन्ति । ततस्त्वं तेषां कूजितं सफलयन्तथाविधैर्गर्जितैर्नर्त्तयेथा इति ॥ ४८ ॥

उत्कल्लोला विपुलपुलिनाग्रेऽथ भद्राभिधाना,
सा ते सिन्धुर्नयनविषयं यास्यति प्रस्थितस्य ।
वातोद्धूतैर्हसति सलिलैर्या शशांकांशुगौरैः,
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम् ॥४९॥

हे नाथ ! अथेत्यनन्तरं अग्रे प्रस्थितस्य-प्रवृत्तस्य ते तव सा भद्राभिधाना सिंधुर्नदी नयनविषयं दृग्गोचरं यास्यति । किंभूतः सिंधुः ? 'उत्कल्लोला' उत्-ऊर्ध्वं कल्लोला वीचयो यस्यां सा तथा । पुनः किंभूता ? 'विपुलपुलिना' विपुलं पृथुलं पुलिनं-जलोज्झितं तटं यस्याः सा तथा । सेतिका ? या 'शशांकांशुगौरैः' शशांकश्चन्द्रस्तस्य ये अंशवः किरणास्तद्वद्धवलैः सलिलैः कृत्वा रन्तिदेवस्य-रन्तिदेवनाम्नः पृथिवीपतेः कीर्त्तिं हसति-तिरस्करोति । किंभूतैः सलिलैर्वातोद्धूतैः-वातेनोद्धूतानि उच्छलितानि वातोद्धूतानि तैः । किंभूतां कीर्तिं ? स्रोतोमूर्त्या नदीरूपेण भुवि परिणतां-पृथिव्याः प्रसृतां आत्मरूपपरित्यागेन रूपान्तरमापन्नामित्यर्थः ॥ ४९ ॥

उच्चैर्भिन्नाञ्जनतनुरुचौ हारिनीरं रथस्थे,
तस्यास्त्वय्युच्चरति सरितो यादवेन्द्र ! प्रवाहम् ।

वीक्षिष्यन्ते क्षणमनिमिषा व्योमभाजोतिदूरा-
देकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥५०॥

हे यादवेन्द्र ! श्रीनेमे ! त्वयि रथस्थे स्यन्दनारूढे उत्तरति सति तस्या भद्रायाः प्रवाहं-ओघं उच्चैरतिशयेन क्षणं यावद्व्योमभाजो-गगनचारिणो मुनिदेवसिद्धविद्याधरादयोऽनिमिषा-निमेषरहिता संत, अतिदूरादतिदूरभावात् भुवः- पृथिव्या एकमेकसंख्य स्थूलमध्येन्द्रनीलं-स्थूलो मध्ये इन्द्रनीला यस्य स त । मुक्तागुणमिव मौक्तिकसरिमेकावलिमित्यर्थ प्रेक्षिष्यन्ते-प्रकर्षेण विलोकयिष्यन्ते । अवनि कामिनो वक्षःस्थललुठदेकावलिविस्मयमाधास्यन्तीति भावः । किंभूतं प्रवाहं ? 'हारिनीरं' हारि-मनोहर नीर-जलं यस्य स तं । किंभूते त्वयि ? भिन्नांजनतनुरुचौ-भिन्नं यर्दितं-यदंजनं तद्वत्तनुरुचिः शरीरकान्तिर्यस्य स तस्मिन् । अनेन श्यामल पृथुवपुरपि भगवतो दूरदेशावस्थितत्वेन तनुतया मध्येन्द्रनीलमणीयत्ते. सिन्धोःप्रवाहोपि दूरभावात्पृथुरपि एकमुक्तावलीयत इति भावः ॥ ५० ॥

तामुत्तीर्णः पुरमधिवसेरीश ! पौराभिधान,
नानादेशागतपणचयैः पूर्णरम्यापणं तत् ।
यस्याकाशं स्पृशति निवहो वेश्मनां दिग्विभागान्,
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतुहलानाम् ॥५१॥

हे ईश ! त्वं तां-भद्राभिधां नदीमुत्तीर्णः सन्, तत् पौराभिधानं- पुरमधिवसेस्तत्र निवासं कुर्य्याः । किंभूतं पुरं ? 'नानादेशागतपणचयैः' नानादेशाद्विविधविषयादागता ये पणचया-विक्रय्य समूहास्तै 'पूर्णरम्यापणं' पूर्णा- भृता रम्याः आपणा-विपणयो यस्मिन्तत् । तदिति किं ? यस्य पुरस्य वेश्मनां मन्दिराणां निवह श्रेणिरुच्चशिखरत्वादाकाशं-नभः स्पृशत्याश्लिष्यति । वेश्मनां निवहः किंकुर्वन् ? दशादिशसंख्याकान्-दिग्विभागान्दिगन्तरालानि 'पुरवधूनेत्रकौतूहलानां' पुरस्य वध्वः पुरवध्वस्तासां यानि नेत्रकौतूहलानित्र

पुरवधूनेत्रकौतूहलानि तेषामत्र. कौतुकं करणे विलोकितं । कार्यं कारणे कार्योपचारात्-कौतुकजन्यनयननिरीक्षितानां पात्रीकुर्वन् ॥५१॥

तस्माद्वर्त्मानघ ! तत्र कियद्गच्छतो भावि दुर्गं,
पंकाकीर्णं नवतृणचितं तत्र तोयाशयानाम् ।
कुर्वन्नब्दः किल कलुषतां मार्गणैः प्रागरीणां,
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ॥५२॥

हे अनघ ! निष्पाप ! तत्र तस्मात्पुरात् गच्छतः कियत् कियन्मात्र-वर्त्म मार्गं दुर्गं-दुःखेन गम्यं भावि भविष्यति । किंभूतं वर्त्म ? 'पंकाकीर्णं' पंक' कर्दमस्तेनाकीर्णं-व्याप्तं । पुनः किंभूतं ? नवतृणचितं-शष्पाकलितं । यत्र वर्त्मनि अब्दो-मेघस्तोयाशयानां-जलाश्रयाणां कलुषतां-मलिनतां कुर्वन् । धारापातैर्वेगवतीवृष्टिभिः कमलान्यभ्यवर्षन् -पूरयामास । केषां ? कानि? कैः ? क इव ? अरीणां मुखानि मार्गणैस्त्वमिव । यथा त्वं प्राक् योगग्रहणात्पुरा अरीणां मुखानि मार्गणैर्बाणैरभ्य-वर्षन्-पूरयामास, तथायमपीति ॥५२॥

नानारत्नोपचितशिखरश्रेणिरम्यः पुरस्ते,
यास्यत्यक्ष्णोर्विषयमचलो मादनो गन्धपूर्वः ।
यं सोत्कण्ठो नवमिव पुनर्वीक्षितुं कान्तहर्षा-
दन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥५३॥

हे नाथ ! ते-तव पुरोऽग्रे यत्तदोर्नित्ययोगात्स 'गन्धेपूर्वः' गन्धेति पदं पूर्वं यस्येति गन्धपूर्वो मादनः गन्धमादन इत्यर्थः । अचल -पर्वतोऽक्ष्णोर्दृशोर्विषयं यास्यति-दृग्गोचरीभविष्यतीत्यर्थः किंभूतोऽचलः ?, 'नानारत्नोपचितशिखरश्रेणिरम्यः' नानारत्नै ये उपचितानि पुष्टानि यानि शिखराणि-शृङ्गाणि तेषां या श्रेणिस्तया रम्यः-प्रधानः । स इति कः ? यं गन्धमादनं कान्तहर्षाच्चारुप्रमोदा-

पुनर्नवमिव वीक्षितु-द्रष्टुं सोत्कण्ठ-सोत्सुक्यंस्त्वमपि अंतःशुद्धो-मध्ये पवित्रः सन् , वर्णमात्रेणैव कृष्णो भविता-भविष्यसि । तत्संपर्कात्तवापि मलापगमो भविष्यतीत्यर्थः । भवितेति तृनादीनामनिर्दिष्टकालत्वात्कालत्रयेपि साधारण्येन भविष्यति ताच्छीलिकस्तृन् ॥५३॥

यस्मिन्पूर्वं किल विरचतो वामभागे भवानीं,
देवीं वीक्ष्य त्रिपुरजयिनः स्वेच्छया केलिभाजः ।
जह्नोःपुत्रो तदनुदधतीं तामिवेर्ष्या सपत्न्याः,
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५४॥

हे नाथ ! किलेति सम्भाव्यते । यस्मिन्गन्धमादने पूर्व-प्रथमं विरचितः गण्डायाः पत्रलेखां विदधतास्त्रिपुरजयिनः-शंभोर्वामभागे-वामप्रदेशे भवानीं-गौरीं देवीं वीक्ष्य-दृष्ट्वा तदनुपश्चात्जह्नो. पुत्री-गंगा सपत्न्याः-गौर्यास्तामिति । यदसौममनपत्रलतां विरचयत्येतस्या एव विरचयतीत्येवमीर्षां दधतीव शम्भोः केशग्रहणं-केशाकर्षणं अकरोत् । कथंभूता सती ? 'इन्दुलग्नोर्मिहस्ता' इन्द्रश्चन्द्रमसो लग्ना-ऊर्म्मय एव हस्तौ यस्या सा । अनेन मुकुटीकृतत्वाच्चन्द्रस्य तल्लग्नहस्तत्वेन महेश्वरमग्रकेशेषु जग्राहेति प्रणयिनी त्वं व्यज्यते । किंभूतस्य त्रिपुरजयिनः ? स्वेच्छया-स्वकामेन 'केलिभाजः' केलि-क्रीडां भजतीति केलिभाक्-तस्य केलिभाजः । विरचित इति-रचगु प्रतियत्ने-धातुर्विपूर्वः, अस्य चुरादिषु पाठात् शतृप्रत्यये विरचयत इति रूपं स्यादतो 'विरचत' इति रूपं चिन्त्यं ॥ ५४ ॥

आरूढस्य स्फटिकमणिभूः श्वेतभानुप्रभाते,
यस्मिन्शैले विमलविलसत्कान्तितोयप्रवाहा ।
संक्रामन्त्या नवघनरुचा छायया स्वधुनीव,
स्यादस्थानोपगतयमुनासङ्गमेनाभिरामा ॥५५॥

हे नाथ ! यस्मिन्शैले गन्धमादनाभिधाने आरूढस्य-उपरि-चटितस्य ते-तव छायया-शरीरशोभया संक्रामन्त्या-अन्तर्विशत्या स्फटिकमणिभू उत्प्रेक्ष्यते-'अस्थानोपगतयमुनासंगमेन' अस्थाने-प्रयागव्यतिरेकेण उपगत-प्राप्तो यो यमुनासंगमस्तेन प्रयागतीर्थव्यतिरिक्तस्थानसंजातयमुनासंयोगेनेत्यर्थः । अभिरामां स्वधुनीव-गंगेव स्यात्-भवेत । किंभूतां स्फटिकमणिभूः ? 'श्वेतभानुप्रभा' श्वेतभानुश्चन्द्रस्तद्वत्प्रभा-रुचिर्यस्या. सा: । पुन. किंभूता ? 'विमल-विलसत्कान्तितोयप्रवाहा' विमला-निर्मला विलसन्ती-उल्लसन्ती कांतिरेव तोयप्रवाहो-जलधारा यस्यां सा । किंभूतया छायया ? नव-घनरुचा' नवो-जलभृतो यो घनस्तद्वद् रुक्कान्तिर्यस्याः सा तया । अयमर्थस्त्वच्छरीरच्छविर्नीलास्ति, गिरेः स्फटिकमणिभूमिः श्वेता । अतस्तत्र त्वच्छवि-प्रतिबिम्बेन उत्प्रेक्ष्यते । किं अस्थाने यमुनासंगमवती गंगेयमिति । अत्र छायाशब्दः शोभार्थ । यदनेकार्थ -"छाया पंक्तौ प्रतिमाया-मर्कयोपित्यनातपे । उत्कोचे पालने कान्तौ, शोभायां च तमस्यपी" ति ॥ ५५ ॥

भास्वद्भास्वन्मणिमयबृहच्चुञ्चशृंगाग्रसंस्थाः,
संप्रत्युद्यत्परिणतफलश्यामला वामभागे ।
यस्मिन्जम्बूक्षितिरुहचया धारयिष्यन्ति सान्द्राः,
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५६॥

हे नाथ ! यस्मिन्गन्धमादने शैले संप्रत्यधुना वामभागे-वाम-प्रदेशे सान्द्राः-निविडा जम्बूक्षितिरुहचया-जम्बूवृक्षसंघा । 'शुभ्र-त्रिनयनवृषोत्खातपंकोपमेयां' शुभ्रो-धवलो योसौ त्रिनयनवृषस्ते-नोत्खात उत्पाटितो योसौ पंक-कर्दमस्तेन सहोपमीयते या सा शुभ्र-त्रिनयनवृषोत्खातपंकोपमेया. तां शोभां धारयिष्यन्ति वहिष्यन्ति । शैलशृङ्गाग्रस्य श्वेतत्वादीशवृषसाम्यं जम्बूतरुणां च, श्यामत्वात्-पंकोपमेयतेति । किंभूता. जम्बूक्षितिरुहचया ? 'भास्वद्भास्वन्मणि-

मयबृहत्तुंगशृंगाग्रसंस्थाः' भास्वानिव-रविरिव भास्वन्ति-देदीप्यमानानि, मणिमयानि-स्फटिकमणिप्रधानानि बृहंति, विपुलानि तुंगान्युच्चानि यानि शृंगाग्राणि तेषु संतिष्ठन्ते, ये ते भास्वद्भास्वन्मणिमयबृहत्तुंगशृंगाग्रसंस्थाः । पुनः किंभूताः ? 'उद्यत्परिणतफलश्यामलाः' उद्यन्ति परिणतानि पक्वानि यानि फलानि तैः, श्यामला-अतिशयेन कृष्णवर्णाः ॥ ५६ ॥

श्रुत्वा यांतं द्रुतमुपगतास्तत्र वेदानिकाया—
स्त्वां याचन्ते प्रथितयशसं येऽर्थिनो दौस्थ्यदीनाः ।
तान्कुर्वीथाः समभिलषितार्थप्रदानैः कृतार्था—
न्नापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥५७॥

हे नाथ ! तत्र शैले ये अर्थिनो—याचकास्त्वां यांतं-द्वारिकां प्रतिगच्छन्तं श्रुत्वा वेदानिकायाः-पुर्य्याः द्रुतं-शीघ्रमुपागता-प्राप्ताः । द्विकर्मकत्वात्—याच्धातोः-साक्षादनुक्तमपि द्रव्यमिति कर्मयोज्यं । याचंते-प्रार्थयन्ते । किंभूतं त्वां ?, प्रथितयशसं-विख्यातकीर्त्ति । किंभूता अर्थिनः ? 'दौस्थ्यदीनाः' दौस्थ्येन दारिद्र्येण दीना दौस्थ्यदीनास्तान्-अर्थिनः समभिलषितार्थप्रदानैः-मनोवांछितार्थवितरणैः कृत्वा कृतार्थान्—कृतकृत्यान् त्वं कुर्वीथाः—विदधीथाः । अर्थान्तरन्यासेन कारणमाह-हि-यस्मादुत्तमानां सपदः, आपन्नार्त्तिप्रशमनफला-आपन्न-आपद्गतस्तस्यार्त्ति—पीडा तस्याः यत्-शमनं तदेव फलं यासां ताः । तथा चानेकार्थः—"आपन्नः सापदि प्राप्ते च" । अत्र तावदापन्ना याचकास्तेषामर्थदानेनार्त्तिशान्तिं कुर्य्या इति भावः ॥ ५७ ॥

आकर्ण्याद्रिप्रतिरवगुरुं वानरास्त्वत्सकाशे,
क्रोधाताम्रा जनमुखरवं तत्र येऽभिद्रवन्ति ।
तान्योधानां विमुखय पुनर्दारुणैर्ज्यानिनादैः,
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥५८॥

हे नाथ ! यत्र शैले ये वानराः—करयस्त्वत्सकाशे-त्वत्समीपे 'अद्रिप्रतिरवगुरु' अद्रौ-शैले यः प्रतिरवः-प्रतिशब्दस्तेन गुरुर्गभीरस्तं । जनमुखरव जनानां त्वदभिमुखागतानां लोकानां यो मुखरवस्तमाकर्ण्य-श्रुत्वा अभिद्रवन्ति—अभिमुखमागच्छन्ति । अभिपूर्वो द्रु गतौ-धातुश्च गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्थाः इति वचनात् । तान्वानरान्पुनर्भूयो योधानां-शूराणां ज्यानिनादैः-प्रत्यञ्चाविस्फारैः कृत्वा विमुखय-पराङ् मुखीकुरु । एतदेवार्थान्तरन्यासेन निरूपयति-के वा न स्युर्वा, समुच्चयेन केवलमेत एवान्येऽपि के वा न भवेयुः परिभवपदं । कीदृशाः सन्तो ? 'निष्फलारम्भयत्नाः' आरम्भे यत्न उपक्रमः आरंभयत्नः, निष्फल आरंभयत्नो येषां ते तथा, लोकैरुपहास्यमानाः-पराभवभाजनं भवन्तीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

तस्मिन्नद्रौ निवसति विभुः स स्वयंभूर्भवाख्यो,
देवः सेव्यापरसुरगणैर्वन्द्यपादारविन्दः ।
यद्ध्यानेनापहृतदुरिता मानवाः पुण्यभाजः,
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥५९॥

हे नाथ ! यस्मिन्नद्रौ-गन्धमादनगिरौ स भवाख्य-ईश्वराभिधो देवो निवसति—निवासं विधत्ते । किंभूतो देवः ? विभुर्व्यापकः समर्थो वा । पुनः किंभूतः ? 'स्वयंभूः' स्वयं भवतीति परानुत्पाद्यत्वात्स्वयंभूः । पुनः किंभूतः ? सेव्यापरसुरगणैर्वन्द्यपादारविन्दः-नमस्करणीयचरणकमलः । स इति कः ? 'यद्ध्यानेन' यस्येश्वरस्य ध्यानेन-मनःस्मरणेन अपहृतदुरिता-अपनीतपापाः, मानवाः श्रद्दधानाः-श्रद्धालवः सन्तः, स्थिरगणपदप्राप्तये-स्थिरमविनश्वरं यद्गणपदं तस्य प्राप्तिः स्थिरगणपदप्राप्तिस्तस्यै संकल्पन्ते-समर्था भवन्ति । किंभूताः ? 'पुण्यभाजः' पुण्यं भजन्त इति पुण्यभाजः । शम्भुध्यानेन प्रध्वस्तपातका विनाशिशरीरं परित्यज्य भक्तिभाजः शाश्वतीमीश्वरगणपदवीं लभन्त इति तात्पर्यं ॥ ५९ ॥

नीपामोदोन्मदमधुकरीगुंजनं गीतरम्यं,
केका वेणुक्वणितमधुरा बर्हिणां चारुनृत्यम् ।
श्रोत्रानन्दी मुरजनिनदस्त्वत्प्रयाणे यदिस्या—
त्सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥६०॥

हे नाथ ! त्वत्प्रयाणे-त्वदीयप्रस्थाने यदि चेत् 'श्रोत्रानंदी' श्रोत्राणि आनन्दयतीति श्रोत्रानन्दी, मुरजनिनदो-मृदंगोत्थध्वनिः स्यादिति भविष्येत् । "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वे" ति वचनात् । तदा ननु-निश्चितं पशुपतेरवयवे समुदायोपचारात्पशुपतिचरणन्यासे संगीतार्थः-प्रेक्षाविधिः समग्र-परिपूर्णस्तत्र पर्वते भावी-भविष्यति । अन्यनृत्यकारणानां स्वत एव सिद्धत्वात्तथाहि 'नीपामोदोन्मदमधुकरीगुञ्जनं' नीपामोदैर्नीपपुष्पगन्धैरुन्मदा-दृप्ता या मधुकर्य्यस्तासां यद्गुञ्जनं तदेव, 'गीतरम्यं' गीतवत्सुगातृगानवद्रम्यं-प्रधानं । तथा केकामयूरध्वनिः 'वेणुक्वणितमधुरा' वेणुक्वणितवत्-वांशिकवादितवेणुनिक्वाणवन्मधुरा । तथा बर्हिणां चारुनृत्यं । एवं सर्वोपि संगीतोपाय. सम्मिलितोस्ति । परं यदि मुरजनिनदो भविष्येत्, तदा पूर्णः संगीतार्थो भविष्यतीति भाव ॥ ६० ॥

तस्माद्गच्छन्नथ पथि भवान्वीक्षिता वेणुलाख्यं,
शैलं नीलोपलचयमयाशेषसानुच्छ्रयन्तम् ।
व्याप्याकाशं नवजलभृतां सन्निभो यो विभाति,
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥६१॥

हे नाथ ! अथेत्यनन्तरं भवांस्त्वं अस्माद् गन्धमादनाद् गच्छन्पथि-मार्गे तं वेणुलाख्यं-शैलं वीक्षिता-द्रक्ष्यसि । किंभूतं तं ? 'नीलोपलचयमयाशेषसानुच्छ्रयं' नीलोपला-नीलमणयस्तेषां यश्चय-संघस्तत्प्रधानानि नीलोपलचयमयानि यानि अशेषाणि-समस्तानि सानूनि-प्रस्थानि तेषामुच्छ्रय उदग्रता विद्यते यस्मिन्स त । अत्र

प्राधान्ये मयट् । तमिति कं? यः शैलः आकाशं व्याप्य नवजल-भृतां-नवीनमेघानां सन्निभः-सदृशो विभाति-शोभते। किंभूतः शैलः? उत्प्रेक्ष्यते-विष्णोर्वासुदेवस्य श्यामः-कृष्णः पाद इव। किंभूतस्य विष्णोः? बलिनियमनाभ्युद्यतस्य बलिबन्धने उद्यतस्य-उद्यमवतः ॥ ६१ ॥

तांस्तान्ग्रामांस्तमपि च गिरिं दक्षिणेन व्यतीत्य,
द्रष्टास्यग्रे सितमणिमयं सौधसघं स्वपुर्याः।
क्रान्त्वा वप्रं वियति विशदैः शोभते योंशुजालै
राशीभूतः प्रतिदिशमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥६२॥

हे नाथ ! त्वं तांस्तान् अन्तराले पूर्वपरिचितान्ग्रामानपि च तं गिरिं वेणुलाख्यं दक्षिणेन-दक्षिणा दिग्विभागे । दक्षिणेनेत्यव्ययं, "एनबन्यतरस्यामदूरे पंचम्या" इति-एनप् प्रत्ययः । व्यतीत्य-अतिक्रम्य, अग्रे पुरः-स्वपुर्य्याः द्वारिकायाः सितमणिमयं-श्वेतमणिप्रधानं, यत्तदोर्नित्ययोगात्तं सौधसंघं-नृपमन्दिरसमूहं द्रष्टास्यवलोकयितासि । तमिति कं? यः सौधसंघः वियत्याकाशे विशदैर्निर्मलैरंशुजालैः-किरणसमूहैः वप्रं-प्राकारपीठभूमिं क्रान्त्वा उल्लंघ्य राशीभूतः पुंजीभूतः, उत्प्रेक्ष्यते-त्र्यम्बकस्य-महेश्वरस्य अट्टहास इव ॥ ६२ ॥

प्रत्यासत्ति विशदशिखरोत्संगभागे पयोदे,
नीलस्निग्धे क्षणमुपगते पुण्डरीकप्रभस्य ।
शोभा काचिद्विलसति तनोर्हारिणी यस्य संप्र—
त्यंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥६३॥

हे नाथ । यस्य 'पुण्डरीकप्रभस्य' पुण्डरीकं-सिताम्भोजं तद्वत्प्रभा-छाया यस्य स, तस्य शैलस्य सम्प्रति 'विशदशिखरोत्संगभागे' विशदानि-धवलानि यानि शिखराणि-शृंगाणि तेषां यः उत्संगभागः-क्रोडैकदेशः तस्मिन्हारिणी मनोहरा शोभा काचिदनिर्वाच्या

विलसति, क ? सति नीलरत्निरुचे—कृष्णरुचे पयोदे-मेघे क्षणं यावत् प्रत्यासत्तिं नैकट्यमुपगते—प्राप्ते सति उत्प्रेक्ष्यते—कस्येव ? हलभृत इव बलभद्रस्येव, यथा हलभृतस्तनोरसन्यस्ते मेचके—कृष्णावर्णे वाससि शोभा काचिद्विलसति, तथैतस्यापीति । बलभद्रोपि शुभ्रवर्ण इति प्रसिद्धिः ॥ ६३ ॥

प्राप्योद्यानं पुरपरिसरे केलिशैले यदूनां,
विश्रामार्थं क्षणमभिरतिं गोमतीवारि पश्यन् ।
उत्सर्पद्भिर्दधदिव दिवो वर्त्मनो वीचिसंघैः,
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥६४॥

हे नाथ ! त्वं पुरपरिसरे यदूनां केलिशैले क्रीडागिरौ उद्यानं प्राप्य क्षणं यावद्विश्रामार्थं—खेदापनयनार्थं अभिरतिं कुरु-अवस्थान विधेहि । किंकुर्वन् सन् ? गोमतीवारि पश्यन्सन् । उत्प्रेक्ष्यते-गोमतीवारि उत्सर्पद्भिः-ऊर्द्ध्वं प्रसरद्भिर्वीचिसंघैः कल्लोलराजिभिर्दिवो वर्त्मन-नभो मार्गस्य सोपानत्वंसचारि सोपानत्वंसंचारिसोपानपरम्परां दधदिव-बिभ्रदिव । किंभूतस्त्व ? मणितटारोहणाय । 'अग्रयायी' अग्रे सर्वेषामपि पुरो यातीत्येवंशीलोग्रयायी ॥ ६४ ॥

तत्रासीनो मुररिपुयशो निश्चलः किन्नरीभिः,
शृण्वंस्तिष्ठेः श्रुतिसुखकरं गीयमानं मुहूर्तम् ।
शब्दैरश्मस्खलितरथजैर्मेदुरैरम्बुराशेः,
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥६५॥

हे नाथ ! तत्र केलिशैले त्वं आसीन-उपविष्ट सन् , यत्तदोर्नित्ययोगात् याभिः किन्नरीभिर्गीयमानं मुररिपुयशो-विष्णुकीर्त्तिं मुहुर्त्तं यावत्शृण्वन्श्रुतिविषयी कुर्वन् , निश्चलस्तिष्ठेर्गतिनिरोधं कुर्य्याः । कथ ? यथा भवति-श्रुतिसुखकर-श्रोत्रानुकूलं यथा स्यादिति, ताः-किन्नरी श्रवणपरुषैः-कर्णकठोरैः मेदुरैः पुष्टैरम्बुराशेर्जलधेर्गर्जितैः

शब्दैर्नभाययेर्भयाकुला कुर्याः । किंभूतैर्गर्जितैः अश्मस्खलितरथजैः-अश्मभिः-पाषाणैः स्खलितः-संघट्टं प्राप्तो यो रथस्तस्माज्जाता अश्मस्खलितरथजास्तैः । किंभूतास्ता ? क्रीडालोलाः-क्रीडायां साभिलाषाः । भाययेरित्यत्र गर्जितानां साधनत्वं भयं प्रति कुञ्चिकयैनं भाययतीतिवत्, न हेतुभयं, तेनात्मनेपदे न भवत ॥ ६५ ॥

सान्द्रोन्निद्रार्जुनसुरभितं प्रोन्मिषत्केतकीकं,
हृद्यं जातिप्रसवरजसा स्वादमत्तालिनादैः ।
नृत्यत्केकामुखरशिखिनं भूषितोपांतभूमिं,
नानाचेष्टैर्जलदललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥६६॥

हे नाथ! त्वं तं नगेन्द्रं-क्रीडाशैलं निर्विशेः उपभुंजीथाः । किंभूतं तं? 'सान्द्रोन्निद्रार्जुनसुरभितं' सान्द्रा निरन्तरा उन्निद्राः-प्रफुल्ला येऽर्जुनास्तैः सुरभितं-सुगन्धितां प्रापितं । पुनः किंभूतं? 'प्रोन्मिषत्केतकीकं' प्रोन्मिषन्त्यो विकसन्त्यः केतक्यो यस्मिन्स तं । "नद्यृतश्चे"ति बहुव्रीहेः कप् । पुनः किंभूतं 'जातिप्रसवरजसास्वादमत्तालिनादैः' जातिप्रसवानां-जातिपुष्पाणां यद्रजः-परागस्तस्य य आस्वादस्तेन मत्ता ये अलयो-भ्रमरास्तेषां नादैर्गुञ्जितैर्हृद्यं-मनोहरं । पुनः किंभूतं? 'नृत्यत्केकामुखरशिखिनं' नृत्यन्तः केकामुखराः-बर्हिर्ध्वनिवाचालाः शिखिनो-मयूरा यत्र तं । पुनः किंभूतं? नानाचेष्टैर्विविधनिस्यन्दैर्जलदललितैर्मेघविलासैर्भूषितोपांतभूमिं भूषिता अलंकृता उपान्तभूमिः-पर्यन्तावनिर्यस्य स तं ॥ ६६ ॥

तस्या हर्षादविकृतमहास्ते प्रवेशाय पुर्या
निर्यास्यन्ति प्रवरयदवः सम्मुखाः शौरिमुख्याः ।
या कालेस्मिन्भवनशिखरैः प्रचरद्वारि धत्ते,
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥६७॥

हे नाथ! तस्याः पुर्य्या-द्वारिकाया सकाशात्हर्षात्प्रमोदात् शौरिमुख्याः-केशवप्रमुखा भवरयदवस्ते-तव प्रवेशाय- वेशार्थं समुखा-अभिमुखा निर्यास्यन्ति-निर्गमिष्यन्ति। किंभूतास्ते? 'अविकृतमहा.' अविकृता।वकाररहितास्त्वत्प्रवेशार्थं महा उत्सवा येषां ते तथा। तस्या इति कस्या? या अस्मिन्काले-वर्षासमये भवनशिखरैर्मणि.राम्रैरभ्रवृन्द धत्ते। किंभूतमभ्रवृन्दं? 'प्रक्षरद्वारि' प्रक्षरद्गलद्वारि यस्मात्तत्। पुरो केव? कामिनीव। यथा-कामिनी अलकंकेशं मुक्ताजालग्रथित-मुक्ताफलसमूहशवलितं धत्ते। अत्र पुर्य्याः कामिनीत्व घनपटलस्यालकत्व प्रक्षरत्पानीयस्य मुक्ताफलग्रथित्वमुपमानितमिति। अत्रोपमालङ्कारः॥ ६७॥

शश्वत्सान्द्रस्वतनुमहसं प्रोल्लसद्रत्नदीपा,
मानप्रांशुं शिखरनिवहैर्व्योममार्गं स्पृशन्तः।
गौरज्योत्स्नाविमलयशसं शुभ्रभासः सुधाभिः,
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥६८॥

हे नाथ! यत्र द्वारिकायां प्रासादास्त्वां तुलयितुं-अनुकर्त्तुं तैस्तैर्विशेषैरभिधीयमानसदृशधर्मैरलं-समर्थाः। किंभूतं त्वां 'शश्वत्सांद्रस्वतनुमहस' शश्वन्निरन्तरं सान्द्रं-घनं स्वतनोः-स्वशरीरस्य महस्तेजो यस्य स तं। किंकुर्वन्तः प्रासादा? 'प्रोल्लसद्रत्नदीपाः' प्रोल्लसन्ति-प्रभाभिर्भास्वन्ति रत्नान्येव दीपा येषु ते तथा। किंभूतं त्वां? 'मानप्रांशु' मानेन प्रांशुरुच्चैस्तरस्तं मानप्रांशुं। किंभूताः प्रासादाः? शिखरनिवहैर्गृहाग्रभागसमूहैर्व्योममार्गं-नभःपथं स्पृशन्तः-आश्लिष्यन्त। किंभूत त्वां? 'गौरज्योत्स्नाविमलयशसं' गौरा- शुभ्रा या ज्योत्स्ना-कौमुदी तद्वद्विमलं यशो यस्य स तं। किंभूताः प्रासादाः? सुधाभिर्लेपैः शुभ्रभासः-श्वेतकान्तयः॥ ६८॥

या मुद्दामाखिलसुररिपून्माथिनो दानवारेः,
साहाय्याय प्रथितमहसोऽध्यासते योधवर्गाः।

नानादैत्यप्रहरणभवैः संगरेषु स्वकीर्त्या,

प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥६९॥

हे नाथ ! यां-पुरीं दानवारेः-कृष्णस्य साहाय्याय-सहायत्वार्थं योधवर्गाः-शूरसंघाः अध्यासन्ते-अधितिष्ठन्ति । किंभूतस्य दानवारेः ? 'उद्दामाखिलसुररिपून्माथिनः' उद्दामाः- स्वशौर्येणोत्कटा अखिलाः-समस्ताः ये सुररिपवो-दैत्यास्तान्उन्मथतीत्येवंशील उद्दामाखिलसुररिपून्माथी, तस्य उद्दामाखिलसुररिपून्माथिनः । पुनः किंभूतस्य ? प्रथितमहसो-विख्याततेजसः । किंभूता योधवर्गाः ? संगरेषु-रणेषु नानादैत्यप्रहरणभवैर्नानादैत्यानां-विविधासुराणां प्रहरणेभ्यः भवा-उत्पन्ना नानादैत्यप्रहरणभवास्तैश्चन्द्रहासव्रणांकैः-खड्गाकिणांकैः, स्वकीर्त्या-स्वयशसा खड्गव्रणांकितत्वेन तेषां विशिष्टकीर्त्तेरुल्लासाद्यतः उक्तम्-"खण्डिता एव शोभन्ते, वीराधरपयोधराः" इति, 'प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः' प्रत्यादिष्टा निराकृता आभरणानां रुक्-कान्तिर्यैस्ते, सौवर्णाभरणानि परिदधतीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

व्याधिर्देहान्स्पृशति न भयाद्रक्षितुः शार्ङ्गपाणे—

मृत्योर्वार्त्ता श्रवणपथगा कुत्रचिद्वासभाजाम् ।

कामक्रीडारससुखजुषा यच्छतामर्थिकामा—

न्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥७०॥

हे नाथ ! यत्रेत्यध्याहृयते । यत्र पुर्यां रक्षितुः-लोकानां रक्षकस्य शार्ङ्गपाणेर्विष्णोर्भयाद्व्याधिर्मान्द्यं देहान् न स्पृशति । तथा 'वासभाजां' वासं द्वारिकानिवासं भजन्तीति वासभाजस्तेषां, तन्नगरनिवासिनां कुत्रचित् पुरातनकथाप्रबन्धादिश्रवणे मृत्योर्मरणस्य वार्त्ता 'श्रवणपथगा' श्रोत्रग्राह्या वर्त्तते । तथा च पुनर्यत्र खलु-निश्चयेन वित्तेशानां-धनेश्वराणां यौवनात्तारुण्यादन्यद्वयो नास्ति । किंभूतानां वित्तेशानां? 'कामक्रीडारससुखजुषां' कामक्रीडारसस्य मनोभवकेलि-

रसस्य यत्सुखं तज्जुषन्ते-सेवन्त इति कामक्रीडारससुखजुषस्तेषां । पुनः किंभूतानां ? अर्थिकामान्-याचकमनोरथान्यच्छतां धातूनामनेकार्थत्वात्पूरयताम् ॥ ७० ॥

कर्णे जातिप्रसवममलं केतकं केशपाशे,

कस्तूरीभिः कृतविरचनागल्लयोः पत्रवल्ली ।

कण्ठे माला ग्रथितकुटजा मण्डनं भावि काम्यं,

सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥७१॥

हे नाथ ! यस्यां पुर्य्यां वधूनां त्वदुपगमजं-भवदागमसमयसंभवं काम्यमभिलषणीयं मण्डनं-प्रसाधनं भावि-भविष्यति । तत्किं ? अमलं-निर्मलं, कर्णे जातिप्रसवं-जातिपुष्पं । तथा केशपाशे-केशकलापे केतकं-केतकीपुष्पं । तथा वधूनां गल्लयोर्गण्डयो कस्तूरीभि कृतविरचना-विहितमकर्य्यादिरूपरचना पत्रवल्ली पत्रलता, तथा कण्ठे 'ग्रथितकुटजा' ग्रथितानि कुटजानि-कुटजपुष्पाणि यस्यां सा । तथाविधा माला स्रक् । तथा च पुन सीमन्ते केशमार्गे नीपं-कदम्बकुसुमं, इत्येवं सर्वमपि मण्डनं वधूनां त्वदागमनेन भविष्यतीति भावः ॥७१॥

यस्यां रम्यं युवजनमनोहारि वारांगनानां,

लास्यं तालानुमतकरणं भास्यति त्वत्प्रवेशे ।

वाञ्छन्तीनां तदवगमनानन्दभाजां प्रसादं,

त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥७२॥

हे नाथ ! यस्यां-द्वारिकायां त्वत्प्रवेशे वारांगनानां-पण्यांगनानां रम्यं प्रधानं लास्यं-नाट्यं भास्यति-शोभिष्यते । केषु ? सत्सु पुष्करेषु-तूर्यमुखेषु । यदनेकार्थे—"पुष्करं तूर्यमुखे पद्मे च" इत्यादि । आहतेषु-वाद्यमानेषु, सत्सु कथं ? शनकैर्मन्द-मन्दं । किल नर्त्तनावसरे कठोररवो न घटते । किंभूतेषु ? 'गम्भीरध्वनिषु' गम्भीरो-गुरुतरो ध्वनिर्येषु तेषु । किंभूतं लास्यं ? 'युवजनमनोहारि' युवज-

नानां-तरुणलोकानां मनांसि हरतीति यत्तत्तथा। पुनः किंभूतं? 'तालानुगतकरण' तालश्चञ्चपुटादिस्तेनानुगतं-सम्बद्धं करणं गीत-भेद अगहारभेदो वा, स्थिरहस्तपर्यस्ततारकादिर्द्वात्रिंशत्प्रकारो यस्मिन्तत्तथा। किंभूतानां वारांगनानां? 'तदवगमनानन्दभाजां तस्य-लास्यस्य यदवगमन-ज्ञान तेनानन्दं-प्रमोद भजन्तीति तदवगमना-नन्दभाजस्तासां। पुन किंभूतानां? त्वद्भवत' सकाशात्प्रसादं अनु-नयं वाञ्छन्तीनाम् ॥ ७२ ॥

संसक्तोनां नवरतरसे कामिभिः कुट्टिमानां,
पृष्ठेष्वंतः कृतविरचना घर्म्मवार्यंगनानाम् ।
यस्यां ग्रीष्मे शिशिरकिरणस्यांशुभिर्यामिनीषु ।
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यंदिनश्चन्द्रकान्ताः ॥७३॥

हे नाथ! यस्यां-द्वारिकायां अंगनानां घर्मवारि-परिस्वेदजलं ग्रीष्मे-उष्णकाले यामिनीषु चन्द्रकान्ताश्चन्द्रमणय' व्यालुम्पन्ति-स्फे-टयन्ति। किंभूताश्चन्द्रकान्ता.? शिशिरकिरणस्य-चन्द्रस्य अंशुभि-किरणैः 'स्फुटजललवस्यंदिन'' स्फुट-प्रकटं जललवान्-पानीयबिन्दून् स्यन्दन्ते-क्षरन्तीति, स्फुटजललवस्यन्दिनः। किंभूतानामङ्गनानां? नवरतरसे-नवीनसम्भोगरसे; संसक्तानामासक्तानां। किंभूताश्चन्द्रका-न्ता.? कामिभि.-कामुकैः कुट्टिमानां-पाषाणादिबद्धभूमीनां पृष्ठेषु-अन्तर्मध्ये 'कृतविरचना' कृतं-विहितं विरचनं येषां ते तथा ॥७३॥

गत्वा यूनां रजनि समये धूप्यमानेषु लीला-
वेश्मस्वन्तर्युवतिनिहितै रत्नदीपैर्निरस्ताः ।
जालैर्यत्रावतमसचयाः साध्वसेनेव भूयो,
धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः जर्जरा निष्पतन्ति ॥७४॥

हे नाथ! यत्र द्वारिकायां रजनि समये अवतमसचया-अन्ध-कारसमूहा यूनां-तरुणानां धूप्यमानेषु लीलावेश्मसु गत्वा जालैर्गवा-

त्तमार्गैर्भूय-पुनर्जर्जरा शतशः स्फुटिता सन्तो निष्पतन्ति-निर्गच्छन्ति । किंभूता अवनमसचया. ? 'धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः' धूमस्य उद्गार -निस्सारस्तस्य या अनुकृतरनुकारस्तस्मिन् विषये निपुणा-दक्षा, किल धूमोद्गारादिजालविवरैर्जर्जरीभूयनिर्गच्छति । तथा अमी अपि । उत्प्रेक्ष्यते-साध्वसेनेव-भयेनेव अन्योपि यः किल परेषां गृहे दोषमुत्पादयति । स खलु भयत्रस्तो गवाक्षादिविवरेभ्यो झंपां ददाति निष्पतितश्च जर्जरी भवति । पुन. किंभूता ? 'अन्तर्युवतिनिहितैः' अन्तर्वासगृहाणां मध्ये युवतीभिः-स्त्रीभिर्निहितैर्न्यस्तैः रत्नदीपैः-रत्नान्येव दीपा रत्नदीपास्तैर्निरस्ता-अपाकृताः ॥७४॥

रात्रौ यस्यामुपसखिभृशं गात्रसंकोचभाजां,
रागेणान्धैः शयनभुवनेषूल्लसद्दीपवत्सु ।
प्रेम्णा कान्तैरभिकुचयुगं हृद्यगन्धिर्वधूनां,
ह्रीमूढानां भवति विफलः प्रेरितश्चूर्णमुष्टिः ॥७५॥

हे नाथ ! यस्यां द्वारिकायां शयनभवनेषु-वासगृहेषु रात्रौ रागेणान्धैः कान्तैः-प्रियतमैः प्रेम्णा-स्नेहेन वधूनामभिकुचयुगं-स्तनयुग्मसन्मुख प्रेरितश्चूर्णमुष्टिश्चूर्णं-पटवासादिसुगन्धद्रव्यं तस्य मुष्टिविफलो-निष्फलो भवति, तासां कुचयुगे न लगतीत्यर्थः । किंभूतेषु शयनभवनेषु ? 'उल्लसद्दीपवत्सु' उल्लसन्तः प्रभाभिर्देदीप्यमाना ये दीपास्ते विद्यन्ते येषु तेषु, उल्लसद्दीपवत्सु । किंभूतानां वधूनां ? ह्रीमूढानां त्रपातरलितानां अथ ह्रीमूढत्वकारणगर्भितं तासां विशेषणमाह । पुन. किंभूतानां ? भृशमत्यर्थं, 'उपसखि' सख्या उपसमीपे इति उपसखि 'गात्रसंकोचभाजां' गात्रसंकोचं भजन्तीति गात्रसंकोचभाजस्तासां । किंच तासां-सन्निहितसखीनां प्रदीपप्रभयावलोकनाल्लज्जया गात्र संकोचो भवति । ततश्च या च ता कांतैः प्रेर्यंते चूर्णमुष्टिस्तावता ताभिः स्त्रागम् सकोचितं ततश्चूर्णमुष्टिर्विफलो भवतीति भावार्थः । किम्भूतो ? हृद्यगन्धिः-प्रधानामोदः ॥ ७५ ॥

गायन्तीभिस्तदमलयशो वारसीमन्तिनीभिः,
साकं वाद्यन्मधुरमरुजं तारनादान्यपुष्टम् ।
यस्यां रम्यं सुरभिसमये सोत्सवाः सीरिमुख्या,
बद्धापानं बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥७६॥

हे नाथ ! यस्यां-द्वारिकयां बहिरुपवनं-बाह्योद्यानं सुरभिसमये-वसन्तकाले सीरिमुख्या-बलप्रमुखा कामिनो निर्विशन्ति-उपभुञ्जते । कथं ? यथा भवति । 'बद्धापानं' बद्धमापानं-मद्यपानं यत्र तद्बद्धापानं बद्धगोष्ठि यथा स्यात्तथा । कथं निर्विशन्ति ? वारसीमन्तिनीभिः-पण्यांगनाभिः सार्द्धं, किंकुर्वन्तीभिस्त्वदमलयशस्तत्र अमलं यशः-शस्तद्गायन्तीभिः । किंभूतमुपवनं ? 'वाद्यन्मधुरमरुजं' वाद्यन्मधुरश्रवणानुकूलो मरुज्जो यस्मिन्तत् । पुनः किम्भूतं ? तारनादान्यपुष्टं' तारनादा-उच्चैः शब्दा अन्यपुष्टा-कोकिला यस्मिन्तत् । पुनः किम्भूतं ? रम्यं-प्रधानं । किम्भूतास्ते ? सोत्सवाः समूहा ॥ ७६ ॥

उद्यत्कामालसयुवतिभिः सेव्यमानैः सरोजो—
द्गन्धान् यस्यां सुमधुररसानैक्षवानापिबद्भिः ।
निर्गम्यन्ते शरदि यदुभिः सद्मपृष्ठेषु कीर्त्या,
नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमो वृत्तिरम्याः प्रदोषाः ॥७७॥

हे नाथ ! यस्यां द्वारिकायां शरदि-घनात्यये यदुभिर्यादवैः सद्मपृष्ठेषु सन्दिरोपरिभागेषु प्रदोषरजनीमुखानि निर्गम्यन्ते-अतिवाह्यन्ते । किम्भूताः प्रदोषाः ? 'कीर्त्या नित्यज्योत्स्ना प्रतिहततमो वृत्तिरम्याः' कीर्त्तिरेव धवलत्वादासमन्तान्नित्यं अनवरतं या ज्योत्स्ना-कौमुदी तया प्रतिहता या तमोवृत्तिः-अन्धकारवृत्तिस्तया रम्याश्चारव । किम्भूतैर्यदुभिः ? उद्यत्कामालसयुवतिभिः उद्यन्-उदयं प्राप्नुवन् योऽसौ कामस्तेनालसा या युवतयस्ताभिः सेव्यमानैः । किंकुर्वद्भिः ? 'ऐक्षवान्' इक्षोरिमे विकारा ऐक्षवास्तान् , सुमधुररसान्—

अतिशयेन मृष्टरसान् आपिबद्भिरासमन्तात्पानं कुर्वद्भि । किंभूतानैस्तवान् ? 'सरोजोद्गन्धान्' सरोजगन्धमुत्क्रम्य गन्धो येषां ते सरोजोद्गन्धास्तान् । "शाकपार्थिवादित्वा" न्मध्यगन्धपदलोप ॥७७॥

कौन्दोत्तंसास्तुहिनसमये कुङ्कुमालिप्तदेहाः,
सान्द्रच्छाये शुचिनि तरुभिर्गोमतीरम्यतीरे ।
रूपोल्लासाद्विजितरतयः कन्दुकाभैः सलीलं
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥७८॥

हे नाथ ! यत्र यस्यां-द्वारिकायां गोमतीरम्यतीरे कन्या. सलीलं-लीलयासहित यथास्यात्तथा संक्रीडन्ते । कैर्मणिभि. । किंभूतै ? 'कन्दुकाभै.' कन्दुकवदाभान्ति-शोभन्त इति कन्दुकाभास्तै' । किम्भूताः कन्या ? अमरप्रार्थिता—रूपातिशयाद्देवैरभिलषिता., देवा एव तासां पतित्वमर्हन्ति न मानवा इति भाव । पुन. किंभूता. ? 'कौन्दोत्तंसा' कुन्दस्यायं कौन्दः स उत्तंस.—शेखरो यासां ता' कौन्दोत्तंसाः । क ? तुहिनसमये-हेमन्तकाले । पुन किंभूता' ? 'कुंकुमालिप्तदेहा'' कुंकुमेन-घुसृणेन आलिप्तो देहो यासां ता. । पुन. किंभूता ? 'रूपोल्लासाद्विजितरतय' अतिशायिरूपविलासात् विजिता र[illegible] -कामस्त्री याभिस्ता' । किंभूते गोमतीतीरे ? तरुभिर्वृक्षैः 'सान्द्रच्छाये' सान्द्रा-निरंतरा छाया यस्मिंस्तस्मिन्सान्द्रच्छाये । पुन' किंभूते शुचिनि-पवित्रे ॥ ७८ ॥

यस्यां पुष्पोपचयममलं भूषणं सीधुहृद्यं,
गन्धद्रव्यं वसननिवहं स्वच्छमिच्छानुकूलम् ।
न्यस्तः प्रीत्या त्रिदशपतिना वासुदेवस्य वेश्म-
न्येकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥७९॥

हे नाथ ! यस्यां-द्वारिकायामेक. कल्पवृक्ष. सकलमबलामण्डनं सूते-जनयति । क ? वासुदेवस्य-विष्णोर्वेश्मनि । किं ? तत् पुष्पोप-

चयं अमलं भूषणं तथा गन्धद्रव्यं-सुरभिवस्तु । किंभूतं ? सीधुहृद्य सीधुवदासववन्मनोहरं । तथा सूक्ष्मं तनुतरतन्तुनिर्मितं इच्छानुकूलं वसननिवहं वस्त्रसमूहं । किंभूत. कल्पवृक्ष ? त्रिदशपतिना-इन्द्रेण प्रीत्या-आनन्देन न्यस्त संस्थापित ॥ ७९ ॥

एणांकाश्मावनिषु शिशिरे कुंकुमार्द्रैः पदांकैः,
शीतोत्कंपाद्गतिविगलितैर्वालकैः केशपाशात् ।
भ्रष्टैः पीनस्तनपरिसरोद्रोधमाल्यैश्च यस्यां,
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥८०॥

हे नाथ ! यस्यां-द्वारिकाया कामिनीनां नैशो मार्गः सवितुः-सूर्यस्य उदये सूच्यते । अनेकनिपतितबालकाद्यलङ्कारदर्शनेन कामुकनिकेतनगमनाभियुक्तकामिनीजनसंचरणसरणिः प्रातर्लोकैरनुमीयत इति भाव. । कै ? कैरतदाह-शिशिरे एणांकाश्मावनिषु-चन्द्रकान्तमणिनिबद्धभूमिषु कुङ्कुमार्द्रैषु सृणलिप्तै पदाङ्कैश्चरणचिह्नै. । तथा 'शीतोत्कम्पात्' शीतेन-उत्प्राबल्येन यः कम्प-शरीरचलनं तस्मात् गतिविगलितैर्गतिरवस्थाविशेषस्तया विगलितै.-पतितैः । कस्मात् ? केशपाशात् । कैर्बालकैर्ह्रीवेरैश्च, पुन पीनस्तनपरिसराद्भ्रष्टै रोध्रमाल्यैरेवममीभिरेवचिह्न. कामिनीनां नैशो मार्गः सूच्यत इति ॥ ८० ॥

बाणस्याजौ हरविजयिनो वासुदेवस्य यस्यां,
प्राप्यासत्तिं चरति गतभीः पुष्पचापो निरस्त्रः ।
यस्माद्धेला कृतयुवमनो मोहनास्त्रप्रकर्षै—
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥८१॥

हे नाथ ! यस्यां-द्वारिकायां हरविजयिनः-शम्भु जेतुर्बाणस्य आजौ-संग्रामे वासुदेवस्य 'आसत्तिं-नैकट्यं' प्राप्य-लब्ध्वा पुष्पचाप'-कामो यस्माद्धेतोर्निरस्त्रोऽस्त्ररहितश्चरति-विहरति । किम्भूतः सन् ?

'गतभी.' गता भीर्भयं यस्मात्स गतभयत्वे कामस्य हेतुः स्ववैरिविजेत्राजिनिर्विष्टकेशवासन्नावस्थायित्वमिति । तस्मात्तस्य- कामस्य आरम्भ. कृत्यविधिश्चतुरवनिताविभ्रमैश्चतुरा- विदग्धाश्च ता वनिताश्चतुरवनितास्तासां विभ्रमा- विलासास्तैरेव सिद्धः-निष्पन्न । किंभूतैस्तैर्हेलाकृतयुवमनोमोहनाप्तप्रकर्षैः. हेलया कृतं यत्र वमनोमोहनं-तरुणचेतोरञ्जनं तेनाप्तः-प्रकर्ष आधिक्यं यैस्ते तैः ॥८१॥

यायास्तस्मादथ परिवृतस्त्वं प्रवेशाय तस्यां,
तत्प्राचीनं पुरि हरिमुखैर्गोपुरं यादवेन्द्रैः ।
यत्राशोकः कलयति नवस्तोरणाभां तथान्यो-
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥८२॥

हे नाथ! अथेत्यनन्तरं तस्मात्प्रदेशात्तस्यां-द्वारिकायां पुरि प्रवेशाय-प्रवेशार्थं तत्प्राचीनं, गमननिर्गमनानुभूतं गोपुरं-पूर्द्वारं यायाः-गच्छेः । किंभूत सन्? हरिमुखैः- विष्णुप्रमुखैर्यादवेन्द्रै परिवृत- आश्रित सन्' तदिति किं? यत्र यस्मिन्गोपुरे नवः अशोकस्तोरणाभां वहिर्द्वारशोभां कलयति-वहति । तथा अन्योपि द्वितीयो 'हस्तप्राप्यस्तबकनमितः' हस्ताभ्यां प्राप्या ये स्तबका- पुष्पसंघातास्तैर्विनतो- विनम्रीभूतो बालमन्दारवृक्षो- देवद्रुमस्तोरणाभां विधत्त इति ॥८२॥

उद्यद्बालव्यजनमनिलोल्लासिकासप्रसूनाः,
श्वेतच्छत्रं विकसितसिताम्भोजभाजो विलोक्य ।
तस्यां पौरा विशदयशसं न श्रियः शारदीना,
न ध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्यहंसाः ॥८३॥

हे नाथ' तस्यां-द्वारिकायां पौरा-नागरिकास्त्वां विलोक्य-दृष्ट्वा शारदीनाः-शरत्कालसम्बन्धिनी श्रियो-लक्ष्मीरपि न ध्यास्यन्ति-न स्मरिष्यन्ति । किंभूता. पौराः? 'व्यपगता-त्वद्विरहसमुत्था शुक्-शोको

येषां ते व्यपगतशुच । अथोभयो पृथक् पृथकविशेषणैं साम्यं दर्शयति । किंभूतं त्वां ? 'उद्यद्बालव्यजन' उद्यन्तो-राश्मिं शोरचलन्तीर्वानि-व्यजने-चामरे यस्य स तं । किंभूता श्रिय ? 'अनिलोल्लासिकाम-प्रसूना' अनिलेन वायुना उल्लासीनि नर्त्तनायुतानि कासप्रसूनानि-कासपुष्पाणि यासु ता । किंभूतं त्वां ? 'श्वेतच्छत्रं' श्वेतानि छत्राणि यस्य स त । किम्भूता श्रिय ? 'विकसितसिताम्भोजभाज' विकसितानि-प्रफुल्लानि याम्यम्भोजानि तानि भजन्ते यास्ता विकसितसिताम्भोजभाज. । किम्भूत त्वां ? 'विशदयशसं' विशदं-निर्मल यशो यस्य स त । किम्भूतास्ताः ? 'प्रेक्ष्यहंसा' प्रेक्ष्या प्रकर्षेण दर्शनीया हंसा यासु ता प्रेक्ष्यहंसा, शरदि विशदजलाश्रयत्वाद्धंसागमन ॥८३॥

पुष्पाकीर्णे पुरि सह तदा यस्त्वया राजमार्गं,

यास्यत्युद्यद्ध्वजनिवसनं चन्दनांभश्छटाङ्कम् ।

शौरिं पीताम्बरधरमनु क्ष्माधरे मेघमेनं,

प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥८४॥

हे नाथ ! पुरि—द्वारिकायां यः—पीताम्बरधरः शौरिस्तदा पुरप्रवेशोत्सवे त्वया सह राजमार्गं यास्यति । त्वां भवन्तमनुलक्षीकृत्य तदनुगामित्वेनेत्यर्थ. । ममेव पीताम्बरधरं शौरिं—विष्णुं अहं स्मरामीति—स्मरिष्यामि । "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" इति वचनाद्भविष्यति वर्त्तमानता । किंकृत्वा ? क्ष्माधरे गिरौ 'उपान्तस्फुरिततडितं' उपान्ते—पर्यन्ते स्फुरिता—उल्लसिता तडित्यस्य स त. उपान्तस्फुरिततडितमेनं मेघ प्रेक्ष्यावलोक्य । किम्भूत राजमार्गं ? उद्यद्ध्वजनिवसनं' उद्यन्ति-उच्छलन्ति ध्वजानां निवसनानि वस्त्राणि यस्मिन्स तं । पुन किम्भूतं ? 'चन्दनाम्भश्छटांक' चन्दनाम्भसां याश्छटास्तासामकश्चिन्हं विद्यते यस्मिन्स तं ॥ ८४ ॥

यान्तं तस्यां पुरि हरिबलावुत्सवैः कामिनौ त्वां,
हर्षोत्कर्षं नरपतिपथे नेष्यतस्तौ ययोस्तु ।
स्त्रीणामेको रमयति शतान्यङ्गनां पाययित्वा—
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥८५॥

हे नाथ ! तस्यां पुरि-द्वारिकायां यान्त-गच्छन्तं त्वां तौ उत्सवैस्त्वत्प्रवेशमहैः कामिनौ-हरिबलौ हर्षोत्कर्षं यथास्यात्तथा नरपतिपथे-राजमार्गे नेष्यतः- प्रापयिष्यतः । ताविति कौ ? ययोर्हरिबलयोर्मध्ये एको हरिः स्त्रीणां शतानि रमयति-विनोदयति । अन्यो बलदेवः कांचिदङ्गनां प्रतिपाययित्वा मदिरामिति शेष । अस्या वदनमदिराङ्गण्डूषासवं कांक्षति-वांछति । केन ? 'दोहदच्छद्मना' तद्दर्शनोत्पन्नरागपरवशतया दोहदस्य यच्छद्मामिषं तेन वांछतीति ॥८५॥

सौधश्रेणीर्विततविलसत्तोरणान्तर्व्यतीत्य,
स्वावासं तं मणिचयरुचा भासुरं प्राप्स्यसि त्वम् ।
यस्मिन्कस्मै भवति न मुदे साग्रभूमिर्घनानां,
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥८६॥

हे नाथ ! त्वं सौधश्रेणीर्नृपमन्दिरराजीर्विततविलसत्तोरणान्तः विततानि-विस्तीर्णानि विलसन्ति आदर्शादिभिर्विराजन्ति यानि-तोरणानि तेषामन्तर्मध्ये व्यतीत्यातिक्रम्य तं स्वावासं-निजसौधं प्राप्यसि । किम्भूतं स्वावासं ? 'मणिचयरुचा' चन्द्रकान्तादिमणिसमूहकान्त्या भासुरं-देदीप्यमानं । तमिति कं ? यस्मिन्स्वावासे सा-अग्रभूमिः कस्मै-पुरुषाय मुदे-हर्षाय न भवति । सेतिकायामग्रभूमि दिवसविगमे-सन्ध्यासमये घनानां-मेघानां सुहृन्मित्रं वो-युष्माक नीलकण्ठो-मयूरः अध्यास्ते-अधिवसति ॥ ८६ ॥

नत्वा पूर्वं पितृमुखगुरून् तान्विसृज्याथ बन्धून्
सौधं मां च द्वयमपि ततोऽलङ्कुरुष्वार्द्रचित्तः ।
यन्निःश्रीकं हरति न मनस्त्वां विना यादवेन्दो !,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥८७॥

हे यादवेन्दो ! त्वं पूर्वं तान्–'पितृमुखगुरून्' पितरौ मुखे आदौ येषां ते पितृमुखास्ते च ते गुरवश्च गरिष्ठास्तान् अन्यबन्धून्-परस्वजनान् नत्वा, विसृज्य स्वगृहगमनायादिश्य । ततः पश्चात् आर्द्रचित्तः–सकरुणः सन् सौधं-स्ववासभवनं मां च द्वयमपि अलं-कुरुष्व–विभूषय । यद्द्वयं त्वां विना निःश्रीकं-गतलक्ष्मीकं सज्जनानां मनो न हरति–न चोरयति, अमुमेवार्थं द्रढयति । सूर्यापाये सूर्यस्य-पायो विपत्स च प्रस्तावाद्दिनं उपरागो वा, तदभिभूते रवौ न खलु कमलं-स्वां स्वकीयां यथावस्थितामभिख्यां श्रियं पुष्यति–पुष्णाति । तथैतद्द्वयमपि । अर्थान्तरन्यासः । अत्र पुषं च पुष्टौ दैवादिको धातुर्ज्ञेय । यल्लक्ष्यं कविरहस्ये-"तृष्णां न पुष्णाति यशांसि पुष्यती" त्यादि ॥ ८७ ॥

इत्युक्तेऽस्या वचनविमुखं मुक्तिकान्तानुरक्त,
दृष्ट्वा नेमिं किल जलधरः सन्निधौ भूधरस्थः ।
तत्कारुण्यादिव नवजलाश्रानुविद्धां स्म धत्ते,
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥८८॥

इति अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण विज्ञप्तिवाक्ये उक्ते सति, सन्निधौ श्रीनेमेः समीपे भूधरस्थो जलधरः, किलेति संभावने । अस्या-राजीमत्या वचनविमुखं वचो नादरिणं नेमिं दृष्ट्वा नवजलाश्रानुविद्धां–नवजलान्येवाश्राणि तैरनुविद्धां व्याप्तां 'विद्युदुन्मेषदृष्टिं' विद्युत-उन्मेषः स्फुरणं-प्रकाशकत्वात् स एव दृष्टिस्तां धत्तेस्म-अदधत् अरोदीदिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षते-तत्कारुण्यादिव तस्या-राजीमत्या उपरि

यत्कारुण्य करुणा तस्मादिव । किंभूतं नेमिं ? मुक्तिकान्तानुरक्त' मुक्तिकान्तायामनुरक्तोऽनुरागवान् यः स तं । किंभूतां विद्युदुन्मेषदृष्टिं ? 'खद्योतालीविलसितनिभां' खद्योतानां-ज्योतिरिंगणानां या आली-श्रेणिस्तस्या यद्विलसितं तन्निभां-तत्तुल्यां ॥ ८८ ॥

तत्सख्यूचे तमथवचनं वाञ्छितं साधयास्या,
बालामेनां नय निजगृहं शैलशृङ्गं विहाय ।
त्वत्संयोगान्ननु धृतिसमेतानवद्यांगयष्टि-
र्या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥८९॥

अथेत्यनन्तरं सखी तं नेमिं तद्वचनं ऊचे । ब्रू धातोर्द्विकर्मकत्वात्कर्मद्वयं । तदिति किं ? हे नाथ ! अस्या-राजीमत्या वांछितमभिलषितं साधय । तथा शैलशृंगं-उज्जयन्ताद्रिशिखरं विहाय एनांबालां अपरिणीतत्वात् निजगृहं नय- प्रापय । एनामिति कां ? या तत्र स्वगृहे त्वत्संयोगात्-त्वन्मिलनान् ननु-निश्चितं धृतिसमेता-स तोषवती स्यात । किम्भूता ? 'अनवद्यांगयष्टि.' अनवद्या-निष्पापा अंगयष्टिर्यस्या. सा । उत्प्रेक्षते-युवतिविषये स्त्रीलक्षणपदार्थनिर्माणे धातुर्ब्रह्मण आद्या सृष्टिरिव । प्रथममेनां मूलप्रतिं निर्माय ब्रह्मणा तदीय निर्माणसमुत्पन्नप्रयासनिर्विण्णेन तत्प्रतिछंदक एव निर्मितः समस्तोप्यपरनारीजन इति ॥८९॥

अस्वीकारात्सुभग भवतः क्लिष्टशोभां कियद्भि-
र्मृद्वीमन्तर्विरहशिखिना वासरैर्दह्यमानाम् ।
एनां शुष्यद्वदनकमलां दूरविध्वस्तपात्रां,
जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीवान्यरूपाम् ॥९०॥

हे सुभग ! मृद्वीं एनां-बालां भवतस्तव अस्वीकारादनंगीकारात् क्लिष्टशोभां-म्लानच्छायां कियद्भिर्वासरैरन्तर्विरहशिखिना-अंतश्चित्ते विरह एव शिखी-वह्निरन्तर्विरहशिखी, तेन दह्यमानां अन्यरूपां जातां

मन्ये । परिम्लानदेहलावण्यतया परावर्तितरूपामिवानुरलक्षणीया-मित्यर्थ । किम्भूतामेनां ? 'शुष्यद्वदनकमलां' शुष्यच्छोषं प्राप्नुवद्वदनकमलं यस्या सा तां । पुनः किम्भूतां ? 'दूरविध्वस्तपात्रां' दूरेण विध्वस्तान्यपनीतानि पात्राणि नाट्यानुकर्त्तारो यया सा ता । कामिव? तुहिनं-हिम तेन मथिता तां । वा इवार्थे, पद्मिनीमिव, पद्मिन्यपि शुष्यद्वदनकमला भवति । शुष्यद्वदने-मुखे कमल यस्याः सा तथा । 'दूरविध्वस्तपात्रा' पत्राणां समूह. पात्रं, अथवा पर्णाभिधानं दूरेण विध्वस्त पात्रं यस्याः सा, ईदृग्विधा भवतीति । "पात्रानुकूलयोर्मध्ये, पर्णे नृपति मन्त्रिणी"-त्याद्यनेकार्थोक्ते ॥ ६० ॥

आकांक्षन्त्या मृदुकरपरिष्वंगसौख्यानि सख्याः,
पश्यामुष्या मुखमनुदितं म्लानमस्मेरमश्रि ।
उद्यत्तापात्कुमुदमिव ते कैरविण्या वियोगा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥६१॥

सखी स्वामिनं वक्ति-हे नाथ । त्वं पश्य । यस्या अमुष्या राजीमत्या मुखं उद्यत्तापादैन्यं लक्षणाया विच्छाय त्वं बिभर्त्ति-धारयति । किंकुर्वत्या यस्याः ? ते-तव 'मृदुकरपरिष्वंगसौख्यानि' मृदू-सुकुमारौ यौ-करौ तयोर्यानि परिष्वंगसौख्यान्याश्लेपसुखानि तानि आकांक्षन्त्याः-वांछन्त्या. । पुनः किंभूतायास्त्वदनुसरणक्लिष्टकान्ते. तव यत् अनुसरण पर्वतान्तर्निवासित्वेन तिरोधानं, तेन क्लिष्टा ग्लपिता कान्तिर्यस्या. सा तस्याः । किंभूतं मुखं ? अनुदितं-शोभया अप्राप्तोदयं । पुनः कथंभूत ? म्लानं । पुनः किंभूतमस्मेरं-अविकस्वरं । पुनः कथंभूतमश्रि-अश्राणि विद्य ते यस्मिन्तत् । किमिव ? कैरविण्या.-कुमुद्वत्या, कुमुदमिव । यथा-इन्दोर्वियोगात् कैरविण्या.-कुमुद दैन्यं-परिम्लानच्छायां बिभर्त्ति । अनुदितादीनि विशेषणानि कुमुदस्यापि योज्यानीति ॥ ६१ ॥

शय्योत्संगे निशि पितृगृहे प्राप्य निद्रां पुराऽसौ,

त्वं क ? स्वामिन् ! व्रजसि सहसेति ब्रुवाणा प्रबुद्धा ।

ऊचेऽस्माभिर्न खलु नयनेनापि येनेक्षितासीः,

कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके ! त्वं हि तस्य प्रियेति ॥६२॥

हे नाथ ! असौ-राजीमती पितृगृहे-जनकमन्दिरे पुरा निशि-रात्रौ शय्योत्संगे-तल्पोपरि निद्रां प्राप्य इति ब्रुवाणा-इति वदन्ती प्रबुद्धा-जजागार । इतीति किं ? हे स्वामिन् ! सहसा अनुक्त्वैव क व्रजसि ? । तदानीमस्माभिः सखीभिरूचे-हे रसिके ! गुणानुरागिणि यद्वा सुखदुःखास्वादवेदिनि । यदनेकार्थे—"रस स्वादे जले वीर्ये शृंगारादौ विषे द्रवे । बले रागे देह धातौ, पारदे" इत्यादि । कच्चिदिति—कोमलामन्त्रणे, येन-प्रियेण त्वं नयनेनापि न खलु ईक्षितासीः । तस्य भर्तुः स्मृत्यर्थदयेशां कर्मणि षष्ठी । तं भर्तारं-स्वामिनं प्रियेति स्मरसि ॥ ६२ ॥

एतद्दुःखापनय रसिके प्राक् सखीनां समाजे,

गायत्येषा कितवमधुरं गीतमादाय वीणाम् ।

त्वद्ध्यानेनापहृतहृदया गातुकामा ललज्जे,

भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्छनां विस्मरन्ती ॥६३॥

हे नाथ ! सखीनां समाजे—समूहे प्राक्-पूर्वं 'कितवमधुरं' कितवेन निर्देशस्य भावप्रधानत्वात् कितवतया-धूर्त्ततया मधुरं-मृष्टं गीतं गायति सति, एषा—बाला वीणामादाय गातुकामा ललज्जे । किंभूते सखीसमाजे ? 'एतद्दुःखापनयरसिके' एतस्या राजीमत्या यद्दुःखं विरहजा-व्यथा तस्यापनयः-स्फेटनं, तत्र रसिको-रागवान् यः स तस्मिन् । किंभूता एषा ? त्वद्ध्यानेन-त्वत्स्मरणेन 'अपहृतहृदया' अपहृत हृदयं-चेता यस्या सा तथा । पुनः किंकुर्वती ? भूयो भूयः-पुनः पुनः स्वयमपि कृतां मूर्छनां-स्वरसारणां "सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा,

मूर्छनास्त्वेकविंशति । स्थानान्येकोनपंचाशद्, एतद्गीतस्य लक्षणम् ॥"
मनसः शून्यत्वाद्विस्मरन्ती ॥ ६३ ॥

त्वत्प्राप्त्यर्थं विरचितवती तत्र सौभाग्यदेव्याः,
पूजामेषा सुरभिकुसुमैरेकचित्ता मुहूर्त्तम् ।
दैवज्ञान् वा नयति निपुणान् स्म क्षणं भाषयन्ती,
प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः ॥६४॥

हे नाथ ! तत्र द्वारिकायां एषा-बाला त्वत्प्राप्त्यर्थं मुहूर्तं यावत् सौभाग्यदेव्याः सुरभिकुसुमैः-सुगन्धिपुष्पैः पूजां एकचित्ता-एकाग्रमनाः सती विरचितवती कृतवती । वात्र चार्थे, वा-पुनः निपुणान् त्रिकालवेदिनो दैवज्ञान्-ज्योतिषिकान् भाषयन्ती-वादयन्ती । क्षणं-कालविशेषं नयतिस्म । हि-यस्माद्रमणविरहे प्रायेणांगनानामेते विनोदादि न गमनिका केलयो भवन्ति ॥ ६४ ॥

याते पाणिग्रहणसमयेऽद्रिं विहाय त्वयी मां,
त्यक्त्वा माल्यं सपदि रचिता या त्वया प्राग्वियोगे ।
तामेवैषा वहति शिरसा स्वे निधाय प्रदेशे,
गल्लाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥६५॥

हे नाथ ! पाणिग्रहणसमये-विवाहकाले त्वयि इमां-बालां विहाय अद्रिं रैवतकगिरिं प्रतियाते-गते सति सपदि शीघ्रं माल्य-मालां त्यक्त्वा एकवेणीं तया बालया प्राक्-पूर्वं वियोगे-त्वद्विरहे रचिता तामेवैकवेणीं एकैव वेणी न पुनर्विवृत्य विवृत्य-ग्रथिता, प्रथमदिवसग्रथितैवेत्येकशब्दाभिप्राय । तां करेण स्वे प्रदेशे-निजे शिरोभागे निधाय-संस्थाप्य शिरसा वहति । किंभूतामेकवेणीं ? गल्लाभोगाद्गंडाभोगात् कठिनविषमां-कठोरनिम्नोन्नताम् ॥ ६५ ॥

गीताद्यैर्वा श्रुतिसुखकरैः प्रस्तुतैर्वा विनोदैः,
पौराणीभिः कृशतनुमिमां त्वद्वियोगात्कथाभिः ।

तुष्टिं नेतुं रजनिषु पुनर्नालिवर्गः क्षमोभूव,
तामुन्निद्रामवनिशयनासन्नवातायनस्थः ॥६६॥

हे नाथ ! अलिवर्ग-सखीसमूहस्त्वद्वियोगात् कृशतनुं-दुर्बल-देहां तामिमां बालां रजनिषु तुष्टिं-प्रीतिं नेतुं पुनः क्षम-समर्थो नाभूत् । कैः ? कैरित्याह-गीताद्यैः । किंभूतैः ? श्रुतिसुखकरैः-श्रवणप्रीतिकारिभिस्तथा, द्वावपि वा शब्दौ चार्थौ, वा-पुनः प्रस्तुतैः-प्रस्तावोचितैर्विनोदैः-विनोदवाक्यैः तथा । वा पुनः पौराणिभिः-पुराणसम्बन्धिनीभिः कथाभिः । किंभूतां तामुन्निद्रां-विरहजागरां । किंभूतोऽलिवर्गः ? 'अवनिसयनासन्नवातायनस्थः' अवनौ-पृथिव्यां शयनं अवनिशयनं, तत्र आसन्नो-निकटवर्ती योसौ वातायनो-गवाक्षस्तत्र तिष्ठतीति अवनिसयनासन्नवातायनस्थः ॥ ६६ ॥

या प्रागस्याः क्षणमिव नवैर्गीतवार्त्ताविनोदै—
रासीत् शय्यातलविगलितैर्गल्लभागो विलंघ्य ।
रात्रिं संवत्सरशतसमां त्वत्कृते तप्तगात्री,
तामेवोष्णैर्विरहजनितैरश्रुभिर्यापयन्ती ॥६७॥

हे नाथ ! अस्या-बालायाः प्राक् बाल्यावस्थायां-नवैर्गीतवार्त्ताविनोदैर्गीतानि च गायतोद्गातानि वार्त्ताश्च पुरा भवाः विनोदाश्च तैर्या रात्रिः क्षणमिवासीत् । तामेव रात्रिं संवत्सरशतमितां-वर्षशतमितां त्वत्कृते-त्वदर्थं तप्तगात्री विरहसन्तप्तदेहा राजीमती विरहजनितैर्वियोगोत्पादितैरुष्णैरश्रुभिर्यापयन्ती-अतिवाहयन्ती वर्त्तते । किंभूतैरश्रुभिर्गल्लभागो विलंघ्यातिक्रम्य 'शय्यातलविगलितैः' शय्यातले विगलितानि-पतितानि तैः शय्यातलविगलितैः ॥ ६७ ॥

पश्यन्ती त्वन्मयमिव जगन्मोहभावात्समग्रं,
ध्यायन्ती त्वां मनसि निहितं तत्क्षणं तद्विरामे ।

मूर्त्तिं भित्तावपि च लिखितामीक्षितुं ते पुरस्ता-
दाकांक्षन्ती नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥९८॥

हे नाथ! इयं वाला मोहभावात् समग्रं जगत त्वन्मयमिव त्वद्रूपमिव। तद्रूपे मयट्। पश्यन्ती-वर्त्तते। तथा तत्क्षणं तद्विरामे-मोहविरागे मनसि निहितं-स्थापितं, त्वां-नाथं ध्यायन्ती-वर्त्तते। तथा च पुनस्ते-तव भित्तावपि लिखितां चित्रितां मूर्त्ति-प्रतिबिंबं 'नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशां' नयनसलिलस्य-शोकजलस्य य. उत्पीड.-पूरस्तेन रुद्ध. अवकाशो यस्या. सा तथा। तामीक्षितुं आकांक्षन्ती-वांछन्ती वर्त्तत इति, क्रियाध्याहार. सर्वत्रकार्य इति ॥ ९८ ॥

अन्तर्भिन्ना मनसिजशरैर्मीलिताक्षी मुहूर्त्तं,
लब्ध्वा संज्ञामियमथ दृशाऽवीक्षमाणार्त्तिदीना।
शय्योत्संगे नवकिशलयस्रस्तरे शर्म लेभे,
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनी न प्रबुद्धा न सुप्ता ॥९९॥

हे नाथ! इयं वाला शय्योत्संगे-शयनोपरितले न प्रबुद्धा न सुप्ता शर्म लेभे। अथैतत्कारणगर्भितानि विशेषणान्याह-किंभूतेयं? मनसिजशरै.-कामवाणै अन्तर्भिन्ना-चेतसि विदारिता सती मुहूर्त्तं यावत् मीलिताक्षी-मीलिते अक्षिणी यया सा मीलिताक्षी। अथ मुहूर्तं यावत् संज्ञां-चेतनां लब्ध्वा प्राप्य दृशा अवीक्षमाणा-अपश्यन्ती भवन्तमिति शेषः। पुनः किंभूता? 'अर्त्तिदीना' अर्त्तिर्विरहजा पीडा तया दीना अर्त्तिदीना। किंभूते शय्योत्सगे? 'नवकिशलयस्रस्तरे' नवकिशलयानां-नवपत्राणां स्रस्तर.-संस्तरो विद्यते यस्मिन्स तस्मिन्। केव? स्थलकमलिनीव। यथा स्थलकमलिनी साभ्रे हि दुर्दिनान्धकारिते दिवसे न प्रबुद्धा न सुप्ता, सुखं विकाशरूपं लभते। अयमर्थः-विमीलितलोचनत्वान्न प्रबुद्धा। मुहूर्त्तं यावत्संज्ञाप्राप्तेश्च न सुप्तेति ॥ ९९ ॥

वृत्तान्तेस्मिन् तदनु कथिते मातुरस्यास्तयैतद्—
वृत्तं ज्ञातुं निशि सह मया प्रेषितः सौविदल्लः।
सख्या पश्यन्नयमपि दशां तां तदोचे च जातं,
प्रत्यक्षन्ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत ॥१००॥

पुनः सखी ब्रूते–हे नाथ! अस्या राजीमत्या मातु-श्रीशिवायाः पुरः अस्मिन्वृत्तान्ते राजीमत्यनंगीकाररूपे कथिते सति तदनु–पश्चादेतद्वृत्तं—चरित्रं ज्ञातुं निशि–रात्रौ तया मात्रा मया सख्या सह सौविदल्ल-कञ्चुकी प्रेषितः। अयमपि सौविदल्लोपि तां–दशां राजीमत्या अनादररूपामवस्थां पश्यन्। च–पुनर्मया सख्या तदा ऊचे-उक्तम्। यत् हे भ्रातर्यन्मया उक्त तन्निखिलमपि अचिरात्ते–तव प्रत्यक्षं जातं। तदीय-तथाविध चेष्टादर्शनान् मद्वाक्यस्यानृतत्वं जातमित्यर्थः ॥ १०० ॥

प्रेक्ष्यैतस्मिन्नपि मृगदृशस्तामसह्यामवस्था—
मस्या याते कथयति पुरो विस्तरादेतदेव।
दृग्भ्यां दुःखाद्दुहितुरसृजद्वाष्पमच्छिन्नधारं,
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥१०१॥

एतस्मिन्नपि सौविदल्लोपि मृगदृशो राजीमत्यास्तामसह्यामसहनीयामवस्थां प्रेक्ष्य। प्रत्यायाते-प्रतिनिवृत्ते शिवायाः पुरो विस्तरादेतदेव कथयति सति दुहितृ राजीमत्या दुःखात् शिवा दृग्भ्यां बाष्पं-रोदनं असृजत्–अकरोत्। कथं? यथा भवति। अछिन्नधारं–अत्रटितप्रवाहं यथास्यादिति। अर्थान्तरन्या–समाह–प्रायो बाहुल्येन सर्व कोपि आर्द्रान्तरात्मा–सरसचित्तः सन् करुणावृत्तिः–कृपाढ्या-पारः परदुःखाद्भवति इयमपि माता–स्वदुहितृ दुःखदुःखितास्ति। स्नेहजलपूर्णमध्यत्वादित्यर्थः ॥ १०१ ॥

आहूयैनामवददथ सा निर्दयो योऽत्यजत्त्वा-

मित्थं मुग्धे ! कथय किमियद्धार्यते तस्य दुःखम् ।

त्यक्त्वा लोलं नयनयुगलं तेऽरुणत्वं रुदत्या—

मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥१०२॥

अथेत्यनन्तरं सा-माता एनां-राजीमतीमाहूय-आकार्य्य अवदत् । हे मुग्धे ! यो निर्दयो-निःकरुण इत्थं बहुविज्ञप्तिवाक्यैः प्रमादितोपि त्वा अत्यजत् । तस्य-नेमेरियदेतावन्मात्रं दुःखं किं धार्य्यते-किमुह्यते । तथा रुदत्यास्ते-तव लोलतरलं-नयनयुगलं अरुणत्वं त्यक्त्वा 'चलकुवलयश्रीतुलां एष्यति' चलानि चंचलानि यानि कुवलयानि तेषां या श्रीः-शोभा तस्यास्तुलां-साम्यं प्राप्स्यति कुवलयचलने कारणमाह-कस्मान्मीनक्षोभात-मत्स्यचलनात् ॥ १०२ ॥

अन्तस्तापान् मृदुभुजयुगं ते मृणालस्य दैन्यं,

म्लानं चैतत् मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य धत्ते ।

प्लुष्टः श्वासैर्विरहशिखिना सद्वितीयस्तवायं,

यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥१०३॥

हे राजीमती । च पुनरेतत् तव मृदु-सुकुमारं भुजयुगं अतन्तापाश्चेतसि विरहदाहात् म्लानं सत् मृणालस्य-कमलनालस्य दैन्य-परिम्लिष्टच्छायत्वं धत्ते-बिभर्त्ति । किंभूतस्य मृणालस्य ? 'मिहिरकिरणक्लिष्टशोभस्य' मिहिरकिरणैः-सूर्यकरैः क्लिष्टा म्लपिता-शोभा यस्य स तत्तस्य तथा । हे राजीमती ! तव अयं 'सरसकदलीस्तम्भगौर.' सरसा-आर्द्राश्च ताः कदल्यश्च, सरसकदल्यस्तासां यः स्तम्भस्तद्वद्गौर., ऊरुश्चलत्वं यास्यति-निर्मांसत्वं प्राप्स्यति । किंभूत ऊरु. ? श्वासैः-विरहोष्णोच्छ्वासैः, प्लुष्टो-दग्धः । पुनः कथंभूतो ? विरहशिखिना-विरहाग्निना सद्वितीय-सह द्वितीयेन वर्त्तत इति सद्वितीयः॥१०३॥

वत्से ! शोकं त्यज भज पुनः स्वच्छतामिष्टदेवाः,
कुर्वन्त्येवं प्रयत मनसोऽनुग्रहं ते तथामी ।
भर्तुर्भूयो न भवति रहः संगतायास्तथा ते,
सद्यः कण्ठच्युतभुजलता ग्रन्थिगाढोपगूढम् ॥१०४॥

हे वत्से ! राजीमती ! शोकं त्यज-जहीहि । पुनः स्वच्छतां-चेतः प्रसन्नतां भज । एव अमी इष्टदेवा-अभीष्टदेवता प्रयतमनसः-उद्युक्तचेतस सन्तः, तथा अनुग्रह-प्रसादं कुर्वन्तु । यथा ते-तव भूयो भर्तुः रहःसंगताया-एकान्ते मिलिताया गाढोपगूढं-निविडालिंगितं सद्यस्तत्कालं 'कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि न भवति' कण्ठाच्युतो-भ्रष्टो भुजलता या ग्रन्थिर्यस्मिन्तत् कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि; एवविधं न भवति ॥ १०४ ॥

आरोप्यांके मधुरवचसाऽऽश्वासितेत्थं जनन्या,
तत्याजाधिं क्षणमपि न या त्वद्वियोगात्कृशांगी ।
संप्रत्येषा विसृजति यथा सूनृतैस्तां तथाजौ,
वक्तुं धीर स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥१०५॥

या वाला जनन्या-शिवया अंके-उत्संगे आरोप्य-संस्थाप्य मधुरवचसा इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण आश्वासिता सति आधिं-मानसीं व्यथां क्षणमपि न तत्याज । किंभूता ? त्वद्वियोगात्-त्वद्विरहात् कृशांगी-दुर्बलदेहा एषा-राजीमती संप्रति, यथा सूनृतै -सत्यैः 'स्तनितवचनैः' स्तनितवद्-गर्जितवद्गभीराणि यानि वचनानि तैः स्तनितवचनैस्तं आधिं विसृजति-त्यजति । तथा हे आजौ-रणे वीर । तां मानिनीं-स्वभावादहंकारिणीं प्रति वक्तुं प्रक्रमेथाः-उपक्रमं कुर्य्याः ॥ १०५ ॥

मातुः शिक्षाशतमलमवज्ञाय दुःखं सखीना-
मन्तश्चित्ते ऽजनयदियं पाणिपंकेरुहाणि ।

हस्ताभ्यां प्राक् सपदि रुदतो रुन्धती कोमलाभ्यां,
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥१०६॥

इयं राजीमती मातु' श्रीशिवाया. शिक्षाशतमलमत्यर्थमवज्ञाय-अवधीरयित्वा सखीनामन्तश्चित्तेषु दुःखं अजनयत्-उदपादयत् । किंकुर्वती इयं ? अनुक्तोपि च शब्दोत्र योज्यते । च-पुन. सखीनां पाणिपंकेरुहाणि कोमलाभ्यां हस्ताभ्यां प्राक् रुन्धती-प्रतिषेधयन्ती । किंभूतानि सखीनां पाणिपंकेरुहाणि ? "अवलावेणिमोक्षोत्सुकानि" अबलाया-राजीमत्या यो वेणिमोक्षो-वेणिछोटनं तत्रोत्सुकानि उत्कण्ठितानि । पुनः किंकुर्वती ? सपदि-शीघ्रं मन्द्रस्निग्धैर्गभीरमधुरैर्ध्वनिभिः शब्दै रुदती-अश्रूणी मुंचन्ती ॥ १०६ ॥

वृद्धः साध्व्याः सुभग ! तव यः प्रेपितोभूत् प्रवृत्तिं,
ज्ञातुं तस्मात्कुशलिनमियं रैवताद्रौ द्विजातेः ।
त्वामाकर्ण्योच्छ्वसितहृदयासीत्क्षणं सुन्दरीणां,
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात् किञ्चिदूनः ॥१०७॥

हे सुभग !-श्रीनेमे ! साध्व्या-शोभनशीलया राजीमत्या तव प्रवृत्तिं ज्ञातुं यो वृद्धो द्विजाति प्रेपितोऽभूत् । तस्मात् द्विजातेरियं वाला त्वां रैवताद्रौ कुशलिन-कल्याणवन्तमाकर्ण्य-श्रुत्वा क्षणं यावदुच्छ्वसितहृदया-हर्षेणोल्लसितमानसा आसीत्-बभूव । यतः सुन्दरीणां सुहृदुपगतो-मित्रेणानीतः । अनेन च सदेशाव्यभिचारित्व सूच्यते । कान्तोदन्तः-प्रियतमसन्देशः संगमात् प्रियसंयोगात् किंचिन्मनागेव ऊनो-न्यून इति ॥ १०७ ॥

इत्थं कृच्छ्रे विधुरवपुषो वासरान् वर्षतुल्यां-
स्तस्याः सख्या जनकसदने त्वद्वियोगान्नयन्त्याः ।

अन्तश्चित्ते तव सुखलवो न प्रपेदे प्रवेशं,
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥१०८॥

हे नाथ ! इत्थं-अमुना प्रकारेण कृच्छ्रे-कष्टे विधुरवपुषः-पीडितदेहायास्तस्याः सख्या-राजीमत्या जनकसदने-पितृगृहे त्वद्वियोगात्-त्वद्विरहात् वासरान्-दिनानि वर्षतुल्यान् नयन्त्याः-प्रापयन्त्या, अन्तश्चित्ते तव-नाथस्य सुखलवः शरीरेणेति गम्यते, प्रवेशं न प्रपेदे-न प्राप्तवान् । संकल्पैर्मनोवांछाभिस्तैरिति पूर्वदर्शनादिव्यापारै तस्य सुखलवः प्रविशति । यतो वैरिणा विधिना-दैवेन रुद्धमार्गः ससुखलव इति॥ १०८ ॥

प्राप्यानुज्ञामथ पितुरियं त्वां सहास्माभिरस्मिन्,
संप्रत्यद्रौ शरणमबला प्राणनाथं प्रपन्ना ।
अर्हस्येनां विषमविशिखाद्रक्षितुं त्वं हि कृच्छ्रे,
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥१०९॥

अथेत्यनन्तरं इयं-राजीमती अबला पितुः-समुद्रविजयस्य अनुज्ञामादेशं प्राप्य, अस्माभिः सखी सौविदल्लादिभिः सह अस्मिन्नद्रौ-उज्जयन्ताभिधे त्वां-प्राणनाथं शरणं प्रपन्ना । अतो हि-निश्चितं, त्वं एनां-बालां कृच्छ्रे-कष्टे विषमविशिखात्कामाद्रक्षितुमर्हसि-योग्यो भवसि । यतः सुलभविपदां-क्षणविनश्वरत्वाच्छरीरस्य प्राणिनामेतदेव कुशलपृच्छनमेव पूर्वाभाष्यं-प्रथममालपनीयं-प्रथमप्रष्टव्यमित्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ १०९ ॥

धर्मज्ञस्त्वं यदि सहचरीमेकचित्तां च रक्तां
किं मामेवं विरहशिखिनोपेक्षसे दह्यमानाम् ।
तत्स्वीकारात् कुरु मयि कृपां यादवाधीश ! बाला,
त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥११०॥

हे यादवाधीश ! श्रीनेमे ! वाला-राजीमती 'मन्मुखेन' मम सख्या मुखं मन्मुखं तेन, इदं वक्ष्यमाणमाह-कीदृशं ? तत् 'उत्कण्ठाविरचितपदं' उत्कण्ठा-औत्सुक्येन विरचतानि पदानि शब्दा यत्र तत्तथा । यद्वा क्रियाविशेषणमेतदिति । इदमिति किं ?, हे नाथ ! यदि त्वं 'धर्मज्ञो' जीवदयालक्षणधर्मज्ञाता वर्त्तसे तदा मां सहचरीं-सहचारिणीं च-पुनरेकचित्तां एकस्मिन्नेव भवल्लक्षणे प्रिये चित्तं-मनो यस्याः सा एकचित्ता तां, तथा रक्तां-अनुरागवतीं, एवं विरह-शिखिना-वियोगाग्निना दह्यमानां किमुपेक्षसे-किमुपेक्षां कुरुषे । तत्तस्माद्धेतोः स्वीकारात् मदीयेयमित्यंगीकारात् मयि कृपां-दयां कुरु । इतीदं मन्मुखेनाह ।। ११० ।।

दुर्लंघ्यत्वं शिखरिणि पयोधौ च गाम्भीर्यमुर्व्यां,
स्थैर्यं तेजः शिखिनि मदने रूपसौन्दर्यलक्ष्मीम् ।
बुद्धे क्षान्तिं नृवर ! कलयामीति वृन्दं गुणानां,
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरुसादृश्यमस्ति ॥१११॥

हे नृवर ! ते-तव-इति वक्ष्यमाणं, दुर्लंघ्यत्वगाम्भीर्यादीनां गुणानां वृन्दं भवत्येव सर्वगुणानामविरोधतया अवलोकनात्, हन्त-इति खेदे, अन्यत्र त्वत्प्रतिकृतिदिदृक्षाकौतुकमपि न पूर्यत इति खेद । क्वचिदपि त्रिभुवनेपि एकस्थं-एकस्मिन् वस्तुनि स्थितं नास्ति । यत्र मम नयनप्रलोभनं स्यात् । किन्तु क्वचित् पूर्वोक्त प्रकारेण व्यस्तमेव दृश्यते तदेव दर्शयति-शिखरिणि-पर्वते दुर्लंघ्यत्वं । च-पुन पयोधौ गाम्भीर्य-गम्भीरता, उर्व्यां-पृथिव्यां स्थैर्यं-स्थिरता । शिखिनि वह्नौ तेजः । मदने रूपसौन्दर्यलक्ष्मीं । बुद्धे-सुगते क्षान्ति-क्षमां कलयामीति क्रिया सर्वत्र योज्यते । एवं व्यस्तमेव गुणवृन्दमस्ति नत्वेकस्थ । उत्प्रेक्षते-गुणवृन्दं भीरु इव अन्यदपि यत् किल भीरुवृन्दं भवति, तदपि न क्वचिदेकत्र प्राप्यत इति । अत्र लुप्तोपमा । किंभूतं गुणवृन्दं ? 'सादृश्यं' सया-लक्ष्म्या दृश्यं-दर्शनीयम् ।। १११ ।।

एतानीत्थं विधुरमनसोऽस्वीकृतायास्त्वया मे,
दुःखार्त्तायाः क्षितिभृति दिनानीश ! कल्पोपमानि ।
आसन्नस्मिन्मदनदहनोद्दीपनानि प्रकामं,
दिक्संसक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥११२॥

हे ईश ! त्वया अस्वीकृताया मे मम दुःखार्त्ताया वियोगदुःख-पीडिताया अस्मिन् क्षितिभृति रैवते इत्थ-अमुना प्रकारेण एतानि-दिनानि प्रकाममतिशयेन कल्पोपमानि कल्पेन-युगान्तेन उपमीयन्ते यानि तानि कल्पोपमानि आसन्-बभूवुः । किंभूताया मे ? 'विधुरमनस' विधुरं वियोगेन पीडितं मनो यस्या' सा तस्या' । किंभूतानि दिनानि ? 'मदनदहनोद्दीपनानि' मदनदहनं-मन्मथाग्निमुद्दीपयन्तीति मदनदहनोद्दीपनानि । पुन किंभूतानि ? 'दिक्संसक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि' प्रविरसन्तीति-गर्जन्तीति प्रविरसाः, दिक्षु संसक्ता-संलग्नाश्च ते प्रविरसाश्च ते घनाश्च तैर्व्यस्तः सर्वथा निरस्त' सूर्यातपो येषु तानि, दिक्-संसक्तप्रविरसघनव्यस्तसूर्यातपानि ॥११२॥

रात्रौ निद्रां कथमपि चिरात् प्राप्य यावद्भवन्तं,
लब्ध्वा स्वप्ने प्रणयवचनैः किंचिदिच्छामि वक्तुम् ।
तावत्तस्या भवति दुरितैः प्राक्कृतैर्मे विरामः,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥११३॥

हे नाथ ! अहं रात्रौ कथमपि महता कष्टेन चिरात्-चिरकालेन निद्रां प्राप्य यावद्भवन्तं स्वप्ने लब्ध्वा प्रणयवचनैः-स्नेहवाक्यैः किंचिद्वक्तुमिच्छामि, तावत् मे-मम प्राक्कृतैः-पूर्वभवविनिर्मितैर्दुरितैः-पापैस्तस्या निद्राया विरामो-व्यपगमो भवति । यतः क्रूरः कृतान्तस्तस्मिन्नपि स्वप्नेपि नौ-आवयो' संगमं-संयोगं न सहते-न क्षमते ॥ ११३ ॥

मन्नाथेन ध्रुवमवजितो रूपलक्ष्म्या तपोभि-

स्तद्वैरान्मामिषुभिरबलां हन्त्यशक्तो मनोभूः ।

दृग्भ्यां तप्तेष्विति मम निशि स्रस्तरे चिन्तयन्त्या,

मुक्तास्थूलास्तरुकिशलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥११४॥

हे विभो ! यत् भवता–नाथेन ध्रुवं–निश्चितं रूपलक्ष्म्या-रूप श्रिया, तथा तपोभिर्मनोभूरवजितस्तद्वैरात् यदुताहं एतद्भर्त्रा बलवत्त्वेन जित इति वैरं. मनस्याकलय्य अशक्तोऽक्षमो मनोभूर्मामबलामसमर्थां तत्पत्नीत्वेन ज्ञात्वा इषुभिर्बाणैर्हन्ति । इति पूर्वोक्त प्रकारेण मम निशि–रात्रौ स्रस्तरे तप्तेषु तरुकिशलयेषु चिन्तयन्त्या –स्मरन्त्याः मुक्तास्थूला–मौक्तिकवत्पीवरा अश्रुलेशा दृग्भ्यां पतन्ति ॥११४॥

अस्मिन्नेते शिखरिणि मया यादवेशान्तिकान्ते,

जीमूताम्भःकणचयमुचः सञ्चरन्तः पुरस्तात् ।

संसेव्यन्ते विषमविशिखोत्तप्तया नीपवाताः,

पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंगमेभिस्तवेति ॥११५॥

हे यादवेश ! अस्मिन् शिखरिणि–उज्जयन्तामिधे ते–तव अन्तिकं–समीपं पुरस्तात संचरन्त, एते नीपवाता, इति हेतोर्मया संसेव्यन्ते–आश्लिष्यन्ते । किंभूता नीपवाताः ? 'जीमूताम्भःकणचयमुचः' जीमूताम्भसां–मेघजलानां ये कणा–लेशास्तान् मुंचन्तीति जीमूताम्भः कणचयमुच । किंभूतया मया ? 'विषमविशिखोत्तप्तया' विषमविशिखेन-कामेनोत्तप्ता-संतापिता तया । इतीति किं ? यदि किलेति पदद्वयमपि सम्भावनार्थं, एकार्थपदद्वयोपादानं तु सम्भावनातिशयं ख्यापयति । सम्यक् तवांगमेभिः पूर्वं संस्पृष्टं भवेदिति हेतोर्नीपवाताः संसेव्यन्त इति ॥ ११५ ॥

संचिन्त्यैवं हृदि मयि दयां धारयन् तत्प्रसीद,

स्वामिन्निर्वापय वपुरिदं स्वांगसङ्गामृतेन ।

यत्सन्ताप्यानिशमतितरां प्राणलावण्यशेषं,

गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥११६॥

हे स्वामिन् ! एवं हृदि संचिन्त्य—ध्यात्वा मयि—अबलायां—बालायां दयां धारयन् बिभ्रत सन् प्रसीद-प्रसादं कुरु । इदं मदीय तद्वपुस्तनुं स्वांगसंगामृतेन-स्वशरीरमिलनपीयूषेन निर्वापय-शीतलीकुरु । तदिति किं ? यत् वपुः अनिशं-निरन्तरं अतितरामतिशयेन सन्ताप्य 'प्राणलावण्यशेषं' सत् प्राणाश्च लावण्यञ्च तान्येव शेष यस्य तत् प्राणलावण्यशेषं, तथाविधं सत् 'गाढोष्माभिः' गाढ ऊष्मा यासां ता गाढोष्माः "अनन्ताद्बहुव्रीहौ डाप् अन्यतरस्यां" स्त्रीलिंगे ताभिस्त्वद्वियोगव्यथाभिस्त्वद्विरहपीडाभिरशरणं कृतम् । त्वद्वियोगविधुरस्य मद्वपुषः परित्राणं नास्तीति भावः ॥ ११६ ॥

दुःखं येनानवधि बुभुजे त्वद्वियोगादिदानीं,

संयोगात्तेऽनुभवतु सुखं तद्वपुर्मे चिराय ।

यस्माज्जन्मान्तरविरचितैः कर्मभिः प्राणभाजां,

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥११७॥

हे नाथ ! येन-वपुषा त्वद्वियोगात् त्वद्विरहात् अनवधि—अमर्यादं दुःखं बुभुजे-भुक्तं, इदानीं मे मम तद्वपुश्चिराय-चिरकालं ते-तव संयोगात् सुखमनुभवत्वास्वादयतु । यस्माद्धेतोर्जन्मान्तरविरचितैः-पूर्वजन्मविहितैः कर्मभिः प्राणभाजां-प्राणिनां दशा-अवस्था नीचैरुपरि गच्छति । कदाचिन्निम्ना दुःखोद्वेगजननी, कदाचिदुपरि मनोभिलाषसम्पादिका भवति । अत्र निदर्शनमाह-'चक्रनेमिक्रमेण'

यथा चक्रधारा परिवर्त्तमाना सती क्षणेनोपरि क्षणादधः प्रवर्त्तते । एवं दशायां कालपरिणतेरपि दुःखसुखानुरूपत्वात् एकरूपत्वं न भवति । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ११७ ॥

प्रावृट् प्रान्तं प्रिय ! मम गता दुःखदा दुर्दशेव,
प्राप्यान्योन्यव्यतिकरमितः साम्प्रतं सङ्गमावाम् ।
भोगानेकोत्सवमुखसुखानिच्छया मन्दिरे स्वे,
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥११८॥

हे प्रिय ! मम दुःखदा प्रावृट्-वर्षाकालः प्रान्तमवसानं गता-प्राप्ता । केव ? दुर्दशेव । यथा-दुःखदा दुर्दशा याति, तथा प्रावृट् पर्यन्तं प्राप्ता । इत-अस्माच्छरत्कालादारभ्यावां साम्प्रतं 'अन्योन्य-व्यतिकरं' अन्योन्यं-परस्परं व्यतिकरः प्रेमार्द्रचित्तत्वेन संपर्को यस्मिन्स तं । सङ्गं-संयोगं प्राप्य, च-पुनः स्वे-स्वाज्ञातयोर्थों वा विद्य-न्ते-यस्मिन् तत्तस्मिन् अभ्रादित्वादप्रत्ययः । अथवा स्वे-स्वकीये मन्दिरे वासभवने इच्छया क्षपासु-रात्रिषु भोगान् निर्वेक्ष्याव-उपभो-क्ष्यावहे । किंभूतान् भोगान् ? 'एकोत्सवमुखसुखान्' एकान्यद्वितीयान्यु-त्सवमुखानि-उत्सवादीनि सुखानि येषु ते तान् । किंभूतासु क्षपासु ? 'परिणतशरच्चन्द्रिकासु' परिणता-वृद्धिं प्राप्ता शरद्-शरत्कालस्य चन्द्रि-का यासु ताः परिणतशरच्चन्द्रिकास्तासु । चन्द्रिकावत्त्वेन रमणीयत्वं रजनीनां प्रत्यपादि ॥ ११८ ॥

इत्येतस्याः सफलय चिरात् वाक्यमासाद्य सद्यः,
स्वं वेश्मैनां नवरतरसैः स्वस्थचित्तां कुरुष्व ।
तल्पे प्राक् त्वां निशि वदति या स्मेक्षमाणेव मोहाद्-
दृष्टः स्वप्ने कितव ! रमयन् कामपि त्वं मयेति ॥११९॥

हे नाथ ! इत्यमुना प्रकारेण एतस्या बालाया वाक्यं आसन्न-रूपं सफलय-सफलीकुरु । तथा सद्यस्तत्कालं स्वं वेश्म आसाद्य-प्राप्य

एनां-बालां नवतरसैः-नवीनसम्भोगरसैः स्वस्थचित्तां समाध्या-पन्नमानसां कुरुष्व । एनामिति कां ? या बाला प्राक् तल्पे-शय्यायां निशि-रात्रौ स्वप्ने मोहाच्चितवैकल्यात्त्वामीक्षमाणा इव-अवलोकयन्तीव इति वदतिस्म-अब्रवीत् । इतीति किं ? हे कितव ! त्वं मया कामपि रमणीं रमयन् दृष्ट. इति वदतिस्मेति ॥ ११६ ॥

त्वत्संगाद्याकुलितहृदयोत्कण्ठया राजपुत्री,

त्वामेषाऽऽवां त्वरयति चिरात् स्नेहपूर्णा प्रयातुम् ।

प्रायेणैताः प्रियजनमनोवृत्तयोऽप्राप्तिभावा-

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी-भवन्ति ॥१२०॥

हे नाथ ! एषा-राजपुत्री त्वां प्रति आवां-सौविदल्लसख्यौ चिरात् स्नेहपूर्णा-चिर स्नेहपूरिता सती त्वरयति-उत्सुकयति । कया ? 'त्वत्संगाद्याकुलितहृदयोत्कण्ठया' त्वत्संगादिना-त्वन्मिलनादिना आकुलितं यद्हृदयं तस्मिन् या उत्कण्ठा-औत्सुक्यं तया-साधनभूतया । यत. प्रायेण एता' स्नेहपूर्णा प्रियजनमनोवृत्तयः इष्टे-वल्लभे वस्तुनि अप्राप्तिभावात्-असंयोगभावात् उपचितरसाः-दृढानुरागाः सत्यः प्रेमराशी भवन्ति, विशेषप्रीतिमय्यो भवन्तीति भावः । यद्यप्यभिधानकोशे-स्नेहशब्द-प्रेमशब्दयोरर्थभेदो न कृतस्तथापि व्युत्पत्तिकृतः प्रतीयते, स्नेहनं-स्नेहो वाचनिकं प्रीतिमात्रं, प्रियस्य भावः प्रेमा आन्तरं वाल्लभ्यं। एवं च स्नेहपूर्णमनोवृत्तीनां प्रेमराशिभावो युज्यत एव । अयमत्रभावः, वस्तुनि प्राणभूते इष्टे-स्नेहपूर्णमनोवृत्तयः संयोगे सति तदुपभोगाद्रसोपचयस्यापि दिनकृतस्योपभोगेन नोपचीयन्ते, तावन्मात्रा एवावतिष्ठन्ते । विरहे पुनस्त-दुपभोगाभावात् प्रत्यहमुपचयं गृह्णातिस्म । ततः स्नेहपूर्णमनोवृत्तयः प्रेमराशी-भवन्ति रसोपचयं प्राप्य स्त्यानीभूताः विशिष्टवाल्ल-भ्यनिचया. संजायन्त इति भावः । अत्र दीपकालंकार ॥ १२० ॥

तस्माद्बालां स्मरशरचयैः दुस्सहैर्जर्जराङ्गीं,
सम्भाव्यैनां नय निजगृहात् सत्वरं यादवेन्द्र ! ।
प्रीत्या चास्या मधुरवचनाऽऽश्वासनाभिः कृपार्द्रः,
प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥१२१॥

हे यादवेन्द्र ! तस्माद्धेतोरेनां-बालां दुःसहैः सोढुमशक्यैः स्मरशरचयैः-कामबाणसमूहैर्जर्जराङ्गीं विदारितदेहां सम्भाव्य-सम्भावयित्वा सत्वरं-शीघ्रं निजगृहान्-निजावसान् प्रति नय-प्रापय । च-पुनः कृपार्द्रः सकरुणः सन् प्रीत्या-आनन्देन मधुरवचनाश्वासनाभिर्मधुरवचनैर्या आश्वासना-आश्वासकरणं ताभिरस्या-बालाया जीवितं धारयेथाः । किंभूतं जीवितं ? 'प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं' प्रातः-प्रभाते कुन्दस्य यः प्रसवः-पुष्पं तद्वत् शिथिलम् ॥ १२१ ॥

त्वामर्थेस्याः किमिति नितरां प्रार्थये नाथ ! भूयो,
यस्मादीदृग् जगति महतां लक्षणं सुप्रसिद्धम् ।
स्नेहादेते न खलु मुखरा याचिताः सम्भवन्ति,
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥१२२॥

हे नाथ ! अस्या-राजीमत्या अर्थे त्वां किमिति प्रार्थये-किमिति याचे । यस्माद्धेतोरीदृक् सुप्रसिद्धं-सुप्रतीतं जगति महतां-उदारचेतसां लक्षणं-चिह्नं, यदेते महान्तो याचिताः-प्रार्थिताः सन्तः स्नेहात् न खलु मुखराः-वाचालाः सम्भवन्ति जायन्ते । हि-यस्मात् सतां प्रणयिषु ईप्सितार्थक्रियैव प्रत्युक्तं । प्रणयिनां यदीप्सितं तत्सम्पादनमेव साधूनां प्रतिवचनमिति ॥ १२२ ॥

गत्वा शीघ्रं स्वपुरमतुलां प्राप्य राज्यं त्रिलोक्यां,
कीर्त्तिं शुभ्रां वितनु सुहृदां पूरयाशां च पित्रोः ।

राजीमत्यो सह नवघनस्येव वर्षासु भूयो,

मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥१२३॥

हे नाथ! त्वं शीघ्रं स्वपुरं गत्वा अतुलं-अनुपमं राज्यं प्राप्य त्रिलोक्यां शुभ्रां कीर्त्तिं वितनु-विस्तारय। सुहृदां-मित्राणां च-पुनः पित्रोराशाञ्च-वांछां पूरय। च-पुनस्ते-तव राजीमत्या सह क्षणमपि एव विप्रयोगो मा भूत्। कासु? कस्य? कयेव? वर्षासु, नवघनस्य, विद्युतेव। यथा नवघनस्य वर्षासु-प्रावृट्सु विद्युता सह विप्रयोगो न भवति, तथा भवतोपि राजीमत्या सह विप्रयोगो मास्तु ॥ १२३ ॥

तत्सख्योक्ते वचसि सदयस्तां सतीमेकचित्तां,

सम्बोध्येशः सभवविरतो रम्य धर्मोपदेशैः।

चक्रे योगान्निजसहचरीं मोक्षसौख्याप्तिहेतोः,

केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥१२४॥

इत्येवमिति बहिःस्थ योज्यं। तत्सख्या-राजीमत्यालपा वचसि उक्ते सति, सदयः-सकरुण. ईशः-श्रीनेमिस्तां एकचित्तां सतीं राजीमतीं रम्यधर्मोपदेशैः सम्बोध्य प्रतिबोध्य योगात्-ज्ञानदर्शन-चारित्रादिमोक्षापायात् निजसहचरीं' निजसहचरीव-निजपाणिगृहीतीव या सा तां चक्रे। कस्मान्मोक्षसौख्याप्तिहेतो। किंभूत? सभवविरत -संसारोपरतः। हि यस्मात् उत्तमेषु केषां अभिमतफला प्रार्थना न स्यात् ॥ १२४ ॥

श्रीमान् योगादचलशिखरे केवलज्ञानमस्मिन्,

नेमिर्देवोरगनरगणैः स्तूयमानोधिगम्य।

तामानन्दं शिवपुरि परित्याज्य संसारभोजां,

भोगानिष्टानभिमतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥१२५॥

श्रीमान्-नेमिरस्मिन अचलशिखरे-रैवते योगात्-ध्यानात् केवलज्ञानमधिगम्य-प्राप्य तां-राजीमतीं शिवपुरि-मोक्षपुरम्य। 'अभिमतसुखं' अभिमतं-अभीष्टं, आत्यन्तिकदुःखोच्छेदेन सुखं यस्मिन्म त । यद्वा क्रियाविशेषणं । आनन्दं शश्वन्निरन्तरं भोजयामास । किंकृत्वा ? संसारभाजां इष्टान्-भोगान् परित्याज्य-मोचयित्वा । किंभूतो नेमि ? 'देवोरगनरगणैः' देवाश्च उरगाश्च नराश्च तेषां ये गणास्तैः स्तूयमानः ॥ १२५ ॥

सद्भूतार्थे प्रवरकविना कालिदासेन काव्या-

दन्त्यं पादं सुपदरचितान् मेघदूताद् गृहीत्वा ।

श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं साङ्गणस्याङ्गजन्मा,

चक्रे काव्यं बुधजनमनः प्रीतये विक्रमाख्यः ॥१२६॥

विक्रमाख्य -विक्रमनामा कविः श्रीमन्नेमेश्चरितविशदं चरितेन-चरित्रेण विशदं-उज्ज्वलं काव्य चक्रे । कस्मै ? 'बुधजनमन प्रीतये' बुधजनाना-विद्वल्लोकानां यानि मनांसि तेषां या प्रीतिरानन्दस्तस्यै बुधजनमन. प्रीतये । किंकृत्वा ? 'सद्भूतार्थप्रवरकविना सद्भूता -सत्या ये अर्थास्तैः प्रवरः-प्रधानो य. कविस्तेन सद्भूतार्थप्रवरकविना, कालिदासेन सुपदरचितात्-शोभनपदविनिर्मितात् मेघदूतादन्त्यं-आवसानिक पादं-वृत्तचतुर्थांशं गृहीत्वा । किंभूतो विक्रमाख्य ? 'सांगणात्' सांगणेति कविपितुरभिधानं तस्मादाप्तजन्मा आप्तं-प्राप्तं जन्म येनेति आप्तजन्मा ॥ १२६ ॥

श्रीमन्महाकवि-मन्त्रीवर्य्य-विक्रमप्रणीतं

श्रीनेमिदूतकाव्य सम्पूर्णम् ।

इति श्रीनेमिदूतकाव्यवृत्तिः परिपूर्णाभवत् ।

—:०:—

वृत्तिकृत्-प्रशस्तिः

युगयुगरसशशि (१६४४) वर्षे विक्रमतो विक्रमाख्यवरनगरे ।
श्रीराजसिंहराज्ये, मन्त्रीश्वरकर्मचन्द्राढ्ये ॥ १ ॥
लब्धजगज्जयवर्णे, विशिष्टवरशास्त्रबोधकाकीर्णे ।
श्रीमत्खरतरगच्छे, गुणमणिभिः सिन्धुवदतुच्छे ॥ २ ॥
यः प्रौढिमानममलं, प्राप विवरणवद्भिरद्भुतनवांगीम् ।
श्रीअभयदेवगुरुभिः, क्षमारमासत्क्षमा गुरुभिः ॥ ३ ॥
तस्मिन् विजयिषु सुनयिषु, श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिसत्प्रभुषु ।
बहुविबुधरत्नमण्डित- मिहास्ति येषां सदोपान्तम् ॥ ४ ॥
यैर्गुर्जरे नीवृति राजससदि, प्राज्ञोत्तमद्वादशवाङ्वान्वितैः ।
जय' प्रपेदे च धरापते. पुरो निर्जित्य दुःपाठकधर्मसागरम् ॥५॥
युग्मम् ।

श्रीक्षेमशाखासु बभूवुरुच्चकै' श्रीक्षेमराजाभिध पाठकाभुधि ।
आबालगोपालविचक्षणावलिं, येषां यशोद्यापि चमत्करोति ॥ ६ ॥
येशामुदयिन' शिष्या, अद्यु तद्दीपवद्ग णै' ।
शिवसुन्दरनामानः कनकाह्वाश्च पाठकाः ॥ ७ ॥
वाचनाचार्य सौन्दर्य-पद्प्राप्तमहामहा ।

श्रीदयातिलकाः कामं, तथा कामितदायिनः ॥ ८ ॥ युग्मम् ।
तेषां पट्टोदयक्षोणी-धरचूलादिवाकराः ।
राजन्ते वाचनाचार्याः, सद्विनेयगणार्चिता ॥ ९ ॥
प्रमोदमाणिक्यशुभाभिधा सुधा-माधुर्य्यमाधुर्य्यवचो विलासिनाम् ।
अनेकशास्त्रार्थसुपाठकानां, तच्छिष्यतावाप्तसुखोदयानाम् ॥१०॥
श्रीजयसोमगणीनां, शिष्येणेयं विनिर्मिता वृत्ति ।
काव्यस्य नेमिदूताभिधस्य गुणविनयगणि सुधिया ॥ ११ ॥
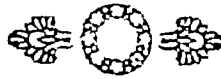
इति श्रीमज्जयसोमगणीनां शिष्येण प० गुणविनयगणिना
श्रीनेमिदूतकाव्य–विवरणं चक्रे ।

यदत्रवितथं प्रोक्तं, मतिमान्द्याद्वचो मया ।
पाठालीकतयावापि, तच्छोध्यं विबुधैर्मुदा ॥१॥

श्रीरस्तु ।

श्रीपार्श्वनाथ-श्रीजिनदत्तसूरि-श्रीजिनकुशलसूरीणां-प्रसादात् ।

शिव स्तात् ।

—॰—

नेमिदूत

अनुवादक:—

महारावजी श्री हिम्मतसिंहजी 'साहित्यरञ्जन'
भैंसरोड़गढ़ (मेवाड़)

अर्हम् ।

मंगलाचरण

जय गणनायक गौरिसुत जय-जय-ऋद्धि-सिद्धि,
दया-दृष्टि रख दास पर विमल कीजिये बुद्धि ।

पूर्वाभास

सिन्धुविजय-सुत नेमिनाथ से राजुल का सम्बन्ध किया ;
जूनागढ़-नृप उग्रसेन ने परिणय-हेतु प्रबन्ध किया ।
वहां बरात ठाठ से आई सतत मोद-नद में बहती ;
पर जैसी होनी होती है, वैसी होकर ही रहती ।

कुछ भी नहीं जान हम पाते, ऐ अदृष्ट तव अद्भुत काज ,
क्या प्रवृत्ति पथ पर निवृत्ति का यहां सजा है सुन्दर साज ।
बलि-हित पशु लख नेमिनाथ को प्रचुर पाप का ध्यान हुआ;
अवसर पाकर पूर्वभवों का समुदित पुण्य महान हुआ ।

नेमिदूत

(१)

जीव-त्राण में दत्तचित्त हो, बन्धुवर्ग परिजन भव-भोग,
उग्रसेन-तनुजा को भी तज, लिया उन्होंने अविचल योग।
श्रीमन्नेमिनाथ प्रभो वह, मोक्ष-मार्ग में करके प्रेम,
छायावाले रम्य रामगिरि पर जा रहे धार दृढ़ नेम।

(२)

तुङ्ग शृङ्ग पर बैठ वहाँ वह, होकर ध्यान-मग्न सविशेष,
कलुष-रहित हो देख रहे थे निज नासा को हो अनिमेष।
सजल श्याम वारिद सा उनको राजमतीजी ने देखा,
अरगड़ पर क्रीड़ा में परिणित कविवर-तुल्य उन्हें लेखा।

(३)

प्रावृट के शोभामय दिन में उन्हें शान्ति सुख में रत देख;
खिले नीप-सुमनों-युत नग पर नृत्य-निरत शिखियों को लेख।
ले करके निःश्वास दीर्घ वह गिरी, भूमि पर चली गई,
राग-रहित पति पाकर प्रमदा कौन न दुख से दली गई।

(४)

उस पतिव्रता सती बाला के पद पड़ने से हुआ पवित्र,
कुटज गंध-युत शीतल जल से स्वागत करता हुआ विचित्र।
वायु व्यजन द्वारा श्रम हरता गूँज उठा वह गिरि ऊँचा,
या मलिन्द-मण्डल गञ्जन मिस उससे कुशल-क्षेम पूछा।

(५)

सिद्धि लाभ-हित शैल-शिखर पर लख निज स्वामी को आसीन;
उग्रसेन-तनया कृशाङ्गी यह विरह-व्याकुला गति-मति-हीन।
हाय सांत्वना लगी माँगने गिरी-सम्मुख मस्तक को टेक;
भेद भूलते जड़-चेतन का होकर कामी हीन-विवेक।

(६)

फिर यदुपति से यों बोली वह काम पीड़िता अश्रु बहा;
शरणागत-वत्सलता ही है राजधर्म का मर्म रहा।
आओ मुझे बचाओ यह मैं खड़ी त्याग संकोच विचार;
"नहीं" श्रेष्ठ है श्रेष्ठ जनों की 'हाँ" भी नीचों की निस्सार।

(७)

तुङ्ग शृङ्ग तज करके आओ चलें द्वारिका को तुम-हम-
जिसके भवन रत्न-निर्मित हैं, हरते अन्तराल का तम।
जिसकी समता करती अलका होती है सकुचित सविषाद;
यद्यपि भव की भाल-चन्द्रिका से उसके धवलित प्रासाद।

(८)

सुन गर्जन गभीर घनों का, चपल चञ्चला का लख लास;
और जान सौरभ फैलाता जुही-चमेली का सुविकास।
विरहानल में कौन जलेगी मुझ जैसी जीवित रहकर;
पावस के सुन्दर दिवसों में पराधीनता-दुख सहकर।

(९)

देखो बैठ वायु पर गिरि से विस्तृत हो यह घन साह्लाद,
विरही जनों के कर्ण-मूल को फोड़ रहा कर घोर निनाद।
जिन्हें पथिक, प्रोषितपतिकाएँ, कमल, कौमुदी रहे निहार;
वह उड़ती बक-पंक्ति आपकी सेवा का सब लेगी भार।

(१०)

नये नीरदों से नीला नभ लख करके जब घबराती;
मन्मथ के खरतर शर से जब विद्ध हुई-सी थर्राती।
विरहाकुल विह्वल बालाएँ हो जाती हैं जब म्रियमाण;
कहो कौन तब पति को तजकर कर सकता है उनका त्राण।

(११)

कज्जल-से काले कजरारे दिग् के अम्बर मेघ महान;
अंधकार में लीन करेंगे वहाँ रात्रि-वासर का ज्ञान।
अधिक और क्या फल पाओगे इस निर्जन नग पर कर वास;
सहचर नभचर हंस मिलेंगे यों ले लेने से संन्यास।

(१२)

मेरा हितकर कहना गिनकर चलो द्वारिका को सानन्द;
सुभग सहायक कृष्णादिक-युत करो राज्य पाकर आनन्द।
तप्त अश्रु-जल बरसावेंगे यदुवर तब हो नयन विघूर्ण;
चिर वियोग पीछे मिलने पर होता प्रेम प्रकट परिपूर्ण।

(१३)

नव वय में ही कृश हो तप से कर स्रोतों का लघु पय पान;
क्यों भूधर पर बैठे हो तुम व्यर्थ त्यागकर अवधि-विधान।
यहाँ वृद्ध होकर ही क्षत्रिय निज जाया-युत रहते हैं;
वन-फल खाकर तपस्वियों-से शम-सुख में नित बहते हैं।

(१४)

दिग् नागों की सूँडें दलते कर विदीर्ण मघवा का मान;
नन्दन-वन से पारिजात को लाए थे हरि मोद-विधान।
युवा यादवों को उपवन में करता है जो मतवाला;
त्याग द्वारिका का उपवन वह पर्वत से क्या प्रेम पाला।

(१५)

प्रभो! आपका भव्य कलेवर था जो तप्त हेम-जैसा;
लता-पुञ्ज से परिवेष्टित हो लगता अब सुन्दर कैसा।
चपला-युत नीले नीरद की शोभा को करता निश्शेष;
मोर-मुकुट धर गोप कृष्ण-सी दिखलाकर नव छबि सविशेष।

(१६)

कण्टक-कीर्ण कहाँ भूधर यह मणिमय महल कहाँ रमणीय;
कहाँ कठिन तप कहाँ तुम्हारी देह-लता कोमल कमनीय।
इस कारण हित समझ-सोचकर मुझ अबला की अनुनय मान;
यक्षाधिप की दिशा ओर तुम धीरे-धीरे करो पयान।

(१७)

देखो पयद समय पा प्रमुदित मित्र मयूरों को करता;
प्रेयसियों से परिरम्भण-हित पथिकों का धीरज हरता।
विमुख नहीं कोई होता है मित्र-प्राप्ति का समय विचार;
इसका तो कहना ही क्या है जो इतना है उच्च-उदार।

(१८)

जैसे तुम भूपति थे पहले, उसी तरह से पुनः रहो;
पा करके साम्राज्य-सुखों को क्रीड़ा-रस में सतत बहो।
शीघ्र सफल कर लो यह यौवन समय-विहङ्गम चलता है;
श्रेष्ठ भाव उपकार दलों का इससे सत्वर फलता है।

(१९)

तुलना होती कहीं न जिसकी त्याग वही नगरी सुख धाम;
क्या कुछ कष्ट न पाते हो तुम इस गिरि पर रह आठों याम?
कनक वप्र पर जहाँ तुम्हारा शोभित है नीलम का सौध;
पाण्डु मध्य मेचक विलोक कर होता भू के कुच का बोध।

(२०)

देखो लख जिस बकावली को नभ में ले निःश्वास सशोक;
विवश हुए से घर जाते हैं तुमसे निर्मम भी वे रोक।
दामिनि-द्युति से नव जलधर में इन्दु चाप-युत उसे निहार;
होता ज्ञात यथा गज-तन पर रुचिर-पत्र-रचना-शृङ्गार।

(२१)

जब तुम राज्य रसायत पुर में बैठे दुख को हरते थे;
सभा मध्य तब मुदित हुए से यदुवर सेवा करते थे।
अब गिरि पर रहकर एकाकी करते हो तुम भारी भूल;
रीतापन लघुता का सूचक पूरापन गौरव का मूल।

(२२)

समाधिस्थ अवलोक आपको चाट आपके अवयव अंग;
शिशुओं-से ही खेल रहे हैं प्रभो अङ्क में अभय कुरङ्ग।
पर अब तुम्हें द्वारिका जाते लख करके घबरावेंगे;
आँखों से आँसू टपकाते यह मृग मार्ग दिखावेंगे।

(२३)

तजकर तुङ्ग शृङ्ग यह गिरि का वृद्ध राज्य पा भोगो भोग;
बन्धुवर्ग में सदा विनय-युत रहना ही है तुमको योग।
दीर्घ काल तक रम्य हर्म्यों में रह करके सादर सानन्द;
उत्कंठा से प्रिय सखियों के आलिंगन का लो आनन्द।

(२४)

वितरण करता कम्पित करके विकसित अर्जुन परिमल-गन्ध;
पथिक जनों को गृह जाने की उत्कंठा से करता अन्ध।
विरही जनों का हृदय-विदारक पयद पवन देगा सन्ताप;
जाने को उद्यत होवेंगे तब अपनी नगरी को आप।

(२५)

यदि तुम घर न चलोगे, तो हो सूखे सर-से महा मलीन;
जननी-जनक आपके औ मैं तीनों होंगे सुध-बुध हीन।
होवेगा उद्विग्न कलेवर ले-लेकर नीरव निःश्वास;
तब दशार्ण में अधिक न होगा सुभग राजहंसों का वास।

(२६)

जीव-त्राण ही धर्म गिनौं, तो स्वजनों का भी त्राण करो,
देवों द्वारा रची द्वारिका उसकी ओर प्रयाण करो।
वहाँ पास ही अम्बुधि-तट पर वेत्रवती की तुङ्ग तरङ्ग,
लहराती है ज्यों रमणी की वक्र हुई भ्रुकुटी का ढङ्ग।

(२७)

इस नग के नीचे प्रति पथ पर चल तुम देखोगे अभिराम;
कौस्तुभ-मणियों से चमकीला उज्ज्वल क्रीड़ा-शैल ललाम।
वनिताओं की नूपुर-ध्वनि से टपका रमण सरस सानन्द;
शिला-गृहों में जो बतलाया यदुवों को यौवन से अन्ध।

(२८)

विस्फुट विटपों से पा करके विविध सुमन-सौरभ सुख-धाम;
स्वागत से प्रमुदित हो लेना वहाँ वाटिका में विश्राम।
छाया से परिचय पा करके गंध हास्य जिनमें सविलास;
भीतर जाना मालिनियों के मुखाम्बुजों का कर सुविकास।

(२९)

मनसिज रसोल्लास लीला से वह अलसित अङ्गों वाली,
कठिन कुचोंवाली मालिनियाँ ललित-लोचनी मतवाली।
जिनके कर्ण-कमल पर होती लोलुप अलियों की गुञ्जार;
ठगे गए यदि देख उन्होंने कीन तनिक भ्रकुटी-सचार।

(३०)

सरस सुरत की इच्छुक-सी वह होगी तुम्हें देख अविलम्ब;
दिखलावेगी हाव-भाव सब तरु-शाखा का कर अवलम्ब।
बता मृगाक्षियें नाभी त्रिवली तथा कठिन कुच केश कलाप;
प्रायःप्रणय प्रकट करती है, करती नहीं प्रथम आलाप।

(३१)

न्याय-विशारद पुरुष न करते किसी काम में कभी विलम्ब,
इससे मैं अनुनय करती हूँ चलो द्वारिका को अविलम्ब।
लिया सजल-दृग हो तब माँ ने अनशन व्रत सह विषम वियोग;
वह दुखिया दुर्बलता त्यागे तुम्हें वही अब करना योग।

(३२)

विषम स्वर्ण रेखा के तट कर उस उद्यान निकट ही पार,
निज गृह जाना मार्ग मध्य वह वामनजी की पुरी निहार।
मानव-भोग भोगने सुमनस आये जहाँ त्रिदिव को त्याग;
लाए शेष पुण्य फल-सा वह अमर-लोक का भव्य विभाग।

(३३)

आलोडन करके शिप्रा को लेकर सरस स्पर्श का मोद;
मदोन्मत्त मारुत करता है वहाँ सतत विचरण सविनोद।
प्रियतम सा विदलित पट करके पोंछ वारत्रिय-तन-प्रस्वेद;
चाटुकार-सा क्षिप्रा वातुल हरता है रति-श्रम का खेद।

(३४)

मरकत-मणि के वहाँ स्तंभ हैं विद्रुम की देहली अभिराम
वासव की मणियों से विजड़ित अग्रभाग के हर्म्य ललाम।
उसकी मुक्तामयी मही पर करि-दल भी निखलाते हैं;
केवल पय तजकर पयोधि से उसमें सब गुण पाते हैं।

(३५)

पुरा काल में वामनजी ने साधा वहाँ तुमुल तप उग्र;
सभी लोक में व्याप्त हुए वे जिससे पाकर सिद्धि समग्र।
दानी मूढ़ दैत्यपति जिससे भेजा गया त्वरित पाताल;
आगन्तुक से मनुज वहाँ के कहते हैं प्रायः यह हाल।

(३६)

पहुँच वसी प्रख्यात पुरी को पा जन-चय से शुभ सत्कार;
श्रम हरना रह रम्य हर्म्य में हे नरवर तुम भले प्रकार।
बिछे चिह्न थे यावक-रस के शय्या पर उज्ज्वल प्रावार;
सूचित करते हैं वह मानो ललनाओं का निशाभिसार।

(३७)

कम्पित करता क्षिप्रा के तट खिले मालती के आराम;
बालाओं की जल-क्रीड़ा से हरता जल-सीकर सुख धाम।
वहाँ सुगन्धित शीत समीरण पोंछ तुम्हारा तन-प्रस्वेद;
सभी तरह से दूर करेगा मार्ग-क्रमण का सारा खेद।

(३८)

वहाँ उपास्य आपसे होंगे महादेव अति महिमावान;
मङ्गलमय विख्यात अनादी करुणामय वह दयानिधान।
दर्शन कर मन्दिर में उनके दृग कृतार्थ हो जावेंगे;
घन-रव सा सुनकर मृदङ्ग-रव नृत्य-समय सुख पावेंगे।

(३९)

तुम्हें मदन-से भी सुन्दर गिन सुन्दरियाँ होकर अनिमेष,
नील नीरजों से इस तन पर चित दे चंचल हो सविशेष।
वहाँ प्रात ही राजमार्ग में जाते लखकर अपने पास;
मधुप-पंक्ति-सी चले चितवन से छोड़ेगी वह कुटिल कटाक्ष।

(४०)

उसके उच्च गृहों पर लखते दिव्य रत्न के दीप अमूल्य;
प्रचुर प्रभा से जो करते हैं कुहु को भी राका के तुल्य।
शान्त नयन उद्वेग-रहित हो नभ-पथ से जाना तत्काल;
देखेगी तब मुदित हुई सी उमा तुम्हारी भक्ति विशाल।

(४१)

नागरिकों से लाए रथ पर बैठ वहाँ जब जाओगे,
दर्शनोत्सुका ग्राम-नारियों को तब पथ पर पाओगे।
तुम गिरती मणियों से उनको धन देते जाना हे धीर;
मेघ-गर्जना सी गर्जन कर उन्हें न करना अधिक अधीर।

(४२)

सुनकर तुम्हें मार्ग में आते यादववर केशव तत्काल,
स्वागतार्थ तव सकल सैन्य-सह भेजेंगे स्यन्दन सुविशाल।
मोदमना तव तात साथ में हर्ष सभी दिखलावेंगे;
सुहृदों के सत्कार प्रयोजन का महत्त्व सिखलावेंगे।

(४३)

आए सुन तुमको तोयधि-तट बलपुर से बलराम प्रधान,
मिलकर दें उपहार तुम्हें तो रखना वह सादर सम्मान।
स्वीकृत नहीं हुआ वह तुमसे यदि यह हो जावेगा ज्ञात,
तो फिर वहाँ उमड़ आवेगा वैर-वारि का प्रबल प्रताप।

(४४)

सफरी की किलोल से तरलित लखकर स्वच्छ स्फटिक-सा जल,
जलनिधि-तट जाना रथ बैठे जहाँ विचरती वीचि विमल
मानो पा नदियां-नवलाएँ हो कामी-सा उदधि अधीर,
उनकी मीन चटुल चितवन भी नहीं देखता है धर धीर।

(४५)

वहाँ वीचियों में देखोगे पूर्व कथित सरिता निर्मल,
जिसे तरङ्ग-करों से पकड़े रहता है नीरधि निश्चल।
मानो मुग्ध हुआ पीता वह उसकी मुख-मदिरा अम्ज्ञान;
स्वाद पड़े पर कौन तजेगा इस सौन्दर्य-सुरा का पान।

(४६)

जलधि-सलिल सीकर-कण हरता तुमुल तरङ्गों को झकझोर;
तट के कलित केतकी-दल को कम्पित करता गंध बटोर।
वन गूलर परिपक्व बनाता हुआ सुगंधित शीत समीर,
वहाँ मार्ग का श्रम हर करके तुम्हें करेगा स्वच्छ शरीर।

(४७)

फिर आगे जाना रत्नाकर-नामक निधि को तुम अवलोक।
जिससे कालकूट निकला था, काँप उठा था सारा लोक।
जल-तल में भी जग का दाहक रहता है वह तेज वहाँ।
रवि से भी बढ़कर रक्खा है पावक-मुख में जिसे जहाँ।

वहाँ किनारे के कानन में रहने वाले मञ्जु मयूर;
बोलें मृदु स्वर से लख तुमको नील जलद से आते दूर।
तो तुम निकट पहुंचकर करना दधि-गर्जन-सा शब्द विशाल;
गूँज उठे गिरि गह्वर जिससे नाच उठे केकी तत्काल।

(४६)

विपुल पुलिनवाली वह भद्रा आगे जा देखोगे तुम;
सहसा उसमें उच्च उर्मियाँ उठती रहती हैं हर दम।
वायु-विकम्पित उज्ज्वल जल से चन्द्र-कला-सा रूप-विकास;
रन्तिदेव की विमल कीर्ति उस चर्मवती से करती हास।

(५०)

जल निधि में जल मिलकर जिसका बढ़ा रहा है वेग अपार;
जाओगे उसमें रथस्थ ही यादवेन्द्र जब करने पार।
देखेंगे तब तरङ्गिणी को नभचर हो अपलक उस काल;
इन्द्र नीलमणि लिए मध्य में वसुन्धरा की मौक्तिक-माल।

(५१)

पार उतर उस पयस्विनी के पाना ईश पौर में स्थान;
देश-देश के जन-चय से हैं शोभित जिसकी रम्य दुकान।
उसके उच्च भवन छूते हैं शीश उठाकर नभ के गात्र,
बनते दशपुर ललना-लोचन लज्जित लालसा के शुभ पात्र।

(५२)

अनघ ! वहाँ नव-तृण-आच्छादित पङ्कित पथ पर जाओगे;
कलुषित सर करते जलधर को गगनाङ्गण में पाओगे।
जलज-मुखों पर जो करता है भीषण पय-धारा का पात;
जैसे पहले तुम करते थे रिपु-मुख पर शर का आघात।

(५३)

विविध रत्न-विजड़ित शिखरों का वह गिरि भव्य गंधमादन;
प्रियतम, तुमको दिखलावेगा सम्मुख आ आभामय तन।
अकलुष हृदय असित तन सब तुम उत्कंठित हो किसी प्रकार;
उसे मुग्ध हो अवलोकोगे नए दृश्य सा बारम्बार।

(५४)

विरूपाक्ष के वाम अङ्क में गौरी का स्वच्छन्द विहार;
देख जहाँ पर जाह्नवी ने बढ़ा दिया निज वेग अपार।
कृत्रिम हास्य प्रकट कर सहसा दिखा व्यंग का ढंग विशेष;
पकड़े वीचि-करों से उसने शंकर के हिमकर-युत केश।

(५५)

स्फटिक-सदृश सित शृङ्गों वाले उस नग पर जब जाओगे;
जल में मेघ-कान्ति-सी उसमें निज आभा झलकाओगे।
दृश्य वहाँ का सुन्दरतम तब अधिक सुशोभित होगा रम्य;
दिखलावेगा गंगा-जमुना-संगम की-सी छटा सुरम्य।

(५६)

सूर्यकान्त मणिमय शिखरों के वाम पार्श्व में जिस गिरि पर;
पके श्याम जामुन से तरुवर लगते हैं कैसे सुन्दर।
दर्पित हो निज शृंगों के बल जो धरणी धरता निश्शंक;
भव के उसी विशद वाहन के लगा शीश पर हो जो पङ्क।

(५७)

वहाँ आपको अनायास ही दीन बन्दिजन आए जान,
याचन करने को आवेंगे प्रथित कीर्ति का धर कर ध्यान।
उन्हें द्रव्य देकर कृतार्थ कर, कर देना पूरी अभिलाष;
प्रायः सज्जन सम्पत्ति पाकर हरते हैं दुखियों की त्रास।

(५८)

प्रतिध्वनि पर्वत की सुनकर क्रोध-दर्प से कर मुख लाल,
कीश-यूथ यदि सम्मुख दौड़े दाँत पीस कर शब्द कराल।
वीर-तुल्य तुम उन्हें भगाना कर दारुण ज्या की टङ्कार;
व्यर्थ काम में यत्नशील हो कौन नहीं जाता है हार।

(५९)

विबुध-वृन्द-वन्दित सेवित हैं जिनके पाद-पद्म अघहर;
रहते हैं उस अमल अद्रि पर भव-नायक भोला शङ्कर।
जिनके ध्यान मात्र से सहसा हो जाते है दुरित नाश;
शिवगण का स्थिर-पद पाने को करते भक्त अटल अभिलाष।

(६०)

नीप-गन्ध से मुग्ध मत्त हो वहाँ गूँजते मधुर मलिन्द;
वेणु क्वणित-सी मृदु तानें ले नाचा करते केकी-वृन्द।
तव पयान से वहाँ बजे यदि श्रवण-सौख्यकर मधुर मृदंग;
तो ताण्डव-रत हर को आवे गायन का पूरा रस रंग।

(६१)

फिर तुम पथ चलते देखोगे इन्द्र नील-मणि-चय-सा भव्य;
बड़े-बड़े शिखरों वाला वह वेणु नाम का नगवर दिव्य।
बलि-बन्धन में रत वामन के लम्बे मेचक चरण-समान;
नव-जलधर सा विस्तृत हो जो बना रहा नभ को छविमान।

(६२)

उस शुचि गिरिवर से दक्षिण के सभी ग्राम करने पर पार;
दीख पड़ेंगे निज नगरी के उज्ज्वल मणिमय महल अपार।
जो प्रकोट से ऊँचे उठकर विशद विभा से अम्बर घेर;
सभी ओर से छवि पाते ज्यों भव के अट्टहास का ढेर।

(६३)

कमल कान्तिमय उन हर्म्यों के सित शिखरों पर आ क्षण-भर
स्निग्ध नील-नव-नीरद कैसे होते हैं शोभित सुन्दर।
हो जाता अवलोकनीय है उनका वह मनहर आकार,
यथा गौर बलराम स्कन्ध पर छवि पाता नीला प्रावार।

(६४)

नगर निकट ही वहाँ बाग में यादव-केलि-शैल पाकर;
गोमति-जल अवलोकन करते रुकना तुम उस जाकर।
व्योम-मार्ग में चढ़ा हयों को पहुंच वहाँ श्रम करने-हेतु;
प्रेम मग्न हो प्रथम बनाना मणि तट पर चढ़ने का सेतु।

(६५)

वहाँ मुहुर्त-भर बैठ शान्त हो सुनना तुक-श्रीहरि-यश गान;
किन्नरियाँ गाती हैं जिसको श्रवण-सौख्यकर ले मृदु तान।
दधि कम्पित कर, घोर शब्द कर हय टापों से बारम्बार,
फिर उन चञ्चल किन्नरियों को कर देना भयभीत अपार।

(६६)

फिर तुम उस गिरिवर पर जाना जहाँ महकती अर्जुन-गन्ध
खिली केतकी और जाति पर मधुर गूँजते मत्त मलिन्द।
नृत्य-निरत केकी की कूकें वहाँ विपिन में मन हरतीं,
विविध रूप धर वारिद-माला भूमि-भाग शोभित करती।

(६७)

उत्सुक हो हर्षातिरेक से माधवादि यादव मय सभ्य,
उस नगरी से निकल आयेंगे समझ आप आगमन अलभ्य।
जल टपकाते जलधर रहते गृह-शिखरों पर जो इस काल;
जैसे रमणी-शीश सुहाते मुक्ता-मण्डित अलक विशाल।

(६८)

विमल कीर्ति-सम प्रखर प्रभामय शाश्वत ज्योत्स्ना से अभिराम
शुभ्र सुधा से विशद वर्ण के गगन-स्पर्शी धाम ललाम।
द्युतिमय रत्न-दीप से सहसा तिमिर-जाल करके निश्शेष;
सभी भांति वह आप सदृश ही रखते गुण-गौरव सविशेष।

(६९)

दुष्ट दैत्य- कुल- नाश- हेतु श्रीकृष्णचन्द्र के रह कर संग;
तुमुल समर में शौर्य दिखाकर लेते जो रण का रस रंग।
बड़े-- बड़े विख्यात वीरवर वहाँ निरन्तर रहते हैं;
चन्द्र हास- व्रण से शोभित हो सुयश सिन्धु में बहते हैं।

(७०)

वहाँ नहीं तनु को छूता है रक्षक श्रीहरि- भय से रोग;
तथा मृत्यु भय सुना न जाता रहते हैं सब लोग निरोग।
दानी, धनी, मोद-युत सन्तत काम-केलि-सुख लहते हैं,
मानो जरठ नहीं होते हैं, सदा तरुण ही रहते हैं।

(७१)

कुब्ज-माल धर कण्ठ देश- में मृग-मद से शोभित कर भाल;
तथा नीप-केतकी-कुसुम से सज्जित कर कुञ्चित कच-जाल।
कर्ण-मध्य धारण कर लेगी विशद जाति के सुरभित फूल,
वहाँ आपके शुभागमन को सुन्दरियाँ गिनकर सुख-मूल।

(७२)

वहां आपके शुभ प्रवेश से नर्तकियाँ पा हर्षोल्लास;
मनोमुग्धकारी युवकों का रचकर सुभग ताल पर लास।
नृत्य-कला-कौशल दिखला कर रसिकों को देंगी आह्लाद;
तुम जैसे गम्भीर घोष के पुष्कर का कर मधुर निनाद।

(७३)

वहाँ ग्रीष्म में वर वनितायें रहकर नवयुवकों के संग;
विवश हुई सी मदन-विह्वला करती क्रीड़ा सरस अभंग।
आतप के श्रम से जब तनु पर आते उमड़ बिन्दु प्रस्वेद,
शशि-किरणों से चन्द्रकान्त-मणि टपका जल हरते श्रम-स्वेद।

(७४)

निशा-समय क्रीड़ा भवनों में धूप धूम से कर विस्तार;
जहाँ जमा देता है पहले अंधकार आतङ्क अपार।
रत्नदीप रखती जब रमणी तब विछिन्न हो किसी प्रकार;
निकल जालियों से जाता है धूम तुल्य ही घर आकार।

(७५)

शयन-मन्दिरों में जलते हैं वहां रात्रि में द्युतिमय दीप;
लज्जित मुग्धायें झुक जाती निज सखियों को देख समीप।
सुखद सुगन्धमयी कुंकुम को भर मुट्ठी में बारम्बार;
प्रेम-अंध हो प्रियतम उन पर फेंका करते हैं निस्सार।

(७६)

वहाँ रसिक हलधरादि यादव लेकर वेश्यायें छविमान,
मधुर मृदंग बजा जो करतीं अमल आपका शुभ-यश-गान।
मधु-ऋतु में सुन करके सहसा कोकिल-कलरव सौख्यनिधान;
बाहर के उद्यान-मध्य जा मोद मनाते कर मधु पान।

(७७)

वहाँ सतत पीते कमलों का मधु रस रुचिर रमणियों संग,
रखतीं जो मदनातिरेक से अपने सारे अलसित अंग।
साँझ समय जा उच्च छतों पर कीर्तिमान यादव सानन्द;
चा चन्द्रिका मे लेते हैं शरद-शर्वरी का आनन्द।

(७८)

कुंकुम के लेपन से शोभित करती जो आतप में अङ्ग;
तथा तुहिन में धारण करती भांति भांति के वस्त्र सुरंग।
देव-दुर्लभा वे कन्यायें शरद्-समय रति-मद हरतीं;
वहाँ गोमती-तट छाया में मणियों से खेला करतीं।

(७९)

वहाँ कृष्ण के सुखद सदन में लगा कल्प-पादप है एक;
मरुत्मान ने जिसे दिया था करते हुए प्रेम-अभिषेक।
विविध विभूषण सुमन-सुवासित,सूक्ष्म व्यजन दे मनोऽनुसार
करता है जो कामनियों के कान्त कलेवर का शृंगार।

(८०)

वहाँ कुटिल कुलटा कामिनियों के गीले कुंकुम पद-चित्र,
चन्द्रकान्त-मणिमय मही पर शोभित होते हुए विचित्र।
शिशिर-प्रकम्पित पतित हुए कच कुच से कान्त कुसुम के हार;
सूर्योदय पर बतलाते हैं विभावरी का गोप्य विहार।

(८१)

निरुद्ध जान रक्षक श्रीहरि को हर की निपट त्याग कर शंक,
मदन वहां विचरा करता है, हो नितान्त निर्भय निश्शंक।
वक्र भ्रुकुटि के चपल चाप पर चंचल चितवन का रख बाण,
चतुर रमणियाँ मोहित करतीं निर्मोही के निर्मम प्राण।

(८२)

वहाँ आप रथ में बैठ ही यदुपति कृष्णचन्द्र के साथ,
पुर प्रवेश प्राचीन द्वार से करके करना उसे सनाथ।
बाल अशोक जहाँ लेता है तोरण की शोभा का भार,
हस्त प्राप्य पुष्पों से लदकर झुका दूसरा नव मन्दार।

(८३)

अवलोकन कर उड़ते चामर श्वेत छत्र शोभा का मूल,
वायु-विकम्पित काश-कुसुम गिन अथवा अमल कमल के फूल।
पुरवासी सारे जानेंगे आया सुखद 'शरद शुभ काल,
और आपके प्रिय दर्शन से होंगे अतिशय मुदित मराल।

(८४)

आवेंगे जब राज मार्ग में वहां नन्द-नन्दन तव सङ्ग,
चन्दन-चर्चित पीताम्बर से शोभित होगा उनका अङ्ग ।
यहाँ निकट नग के विलोक कर दामिनि-युत जलधर सुविशाल;
दृश्य वहां का मुझे यहां पर दीख रहा मानों इस काल ।

(८५)

ग्राम-ग्राम में रेवति-पति के किए महोत्सव से सुख मान;
हर्षित हो वे उभय करेंगे राजमार्ग में वहां पयान ।
एक पिला उच्छिष्ट सुरा को रमता सौ सुन्दरियों-सङ्ग
तथा दूसरा निज दारा में रखता सच्चा स्नेह अभङ्ग ।

(८६)

विस्तृत तोरण की सुखमा-युत सौध-श्रेणी लखकर साह्लाद,
फिर तुम अवलोकोगे अपना चमकीला मणिमय प्रासाद ।
देते हैं आह्लाद जहां पर जलधर अपना डेरा डाल;
सुहृद तुम्हारा नीलकण्ठ भी वहां बैठता सायंकाल ।

(८७)

प्रथम तात गुरु भ्रात जनों से नमस्कार कर सादर आप;
फिर करुणाकर सदन मञ्च पर जा हरना उसका सन्ताप ।
बिना आपके दीख रहा जो छविमय होकर भी छवि-हीन;
हो जाता दिननाथ बिना ज्यों सुन्दर शतदल महा मलीन ।

(८८)

यों अनुनय करने पर भी उस नृप-कन्या से रहे विरक्त,
मुक्तिमयी कान्ता से सहसा नेमिनाथजी थे अनुरक्त ।
तब समीप ही गिरि पर बैठा वहां अश्रु-जल मेघ सशोक;
जुगनू-से चमकते चंचला चक्षु खोलकर उन्हें विलोक ।

(८९)

नेमिनाथ से बोल उठा यों अहो मित्र ! तजकर यह शृङ्ग;
जाओ-जाओ अब अपने घर इस विनीत बाला के संग ।
मुदित करो अपनी आली को कर पूरी इसकी अभिलाष,
रमणी-रचना में विरञ्चि के कौशल का जो प्रथम विकास ।

(६०)

सुभग, तुम्हारे अधिकार से यह कोमल कन्या हो दीन;
विवश हुई-सी विरहानल में जलती जाती हो छवि-हीन।
सूख गया है कमल-कलेवर मुख-सरोज है पत्र-विहीन;
उस पद्मिनी-समान हुई है जिसे तुहिन ने किया मलीन।

(६१)

कोमल कर से आलिंगन के सुख की तब आली को चाह;
बिना तुम्हारे विषम वह्नि-सी बढ़कर देती दाह अथाह।
आतप की कुमुदिनी-तुल्य मुख इसका स्मित शोभा से हीन;
क्षीण चन्द्र-सम कृश लख तुमको दु सह दुख पा होता द न।

(६२)

जनक-हर्म्य में जब यह निशि में शय्या पर थी निद्रा-लीन;
सत्वर कहा चले हैं स्वामिन्, कहती जाग पड़ी हो द न।
तब हम बोले, जिसका तनु तू नयनों से न देख पाई;
प्रियतम की प्यारी रसिके ! क्या उसकी तुझे याद आई।

(६३)

दुःख छिपी सखियों के सम्मुख वीणा ले करती थी गान;
पर विस्मृत-सी हो जाती थी सहसा करके उसका ध्यान।
प्रथम निकाली गई मींड जो दोहरा करके बारम्बार;
लज्जित-सी हो र जाती थी आकुल-व्याकुल किसी प्रकार।

(६४)

वहां तुम्हारी प्राप्ति हेतु यह-सभी ओर से चित्त समेट;
सुरभित सुमन सदा करती थी श्रीसौभाग्यदेवि की भेंट।
दैवज्ञों में गूढ़ प्रश्न कर करती थी बातें सविनोद;
बहुधा विरह-काल में होता वनिताओं का यही विनोद।

(६५)

परिणय-समय इसे तजकर तुम चले जब गिरी ऊपर;
विरहाकुल होकर तब इसने माला झट पटकी भू पर।
तत्क्षण निज कर से फिर इसने बाँधी थी जो वेणी एक;
विषम गाल पर पड़ी हुई को सरकाती है बार अनेक।

(९६)

बिना तुम्हारे दुःखित-सी यह सभी भाँति से हुई निराश,
निन्द्राहत हो पड़ी भूमि पर लेती थी निशि मे निश्श्वास।
सत्र पुराण गीत का वर्णित कहकर विविध ज्ञान-उपदेश;
वातायन पर बैठी सखियाँ हर न सकी थीं इसका क्लेश।

(९७)

कौतूहल-वर्धक बातों से या नव-गीतों से उस कान्त;
सदा शवरी रही बिताती यह मृदु तकियों पर धर गाल।
अथवा कोमल शय्या पर सो जिसे बिताई क्षण-सम जान;
अश्रु बहाकर उस विभावरी को मान रही शत वर्ष-समान।

(९८)

मोह-मग्न जग को विलोक यह रूप तुम्हारा करके याद;
तत्क्षण ध्यान तुम्हारा धरकर मानस-मन्दिर में सविषाद।
पुनः निरखती वहाँ भीत पर चित्र तुम्हारा अति सुकुमार;
पर असफल-सी रह जाती थी अविरल बहा अश्रु की धार।

(९९)

मनसिज-शर से खिन्न-चित्त यह करती कभी नयन निज बद,
कभी खोल दृग देखा करती क्षितिज छोर को हो निष्पन्द।
नवल मृदुल पल्लव शय्या पर पड़ी-पड़ी दुःखित होती;
साभ्र दिवस मे ज्यों सरोजिनी नहीं जागती या सोती।

(१००)

फिर निज जननी के कहने पर जान गई जब सारा हाल,
निशि में उसी दशा में कंचुकी मेरे संग भेजा तत्काल।
जैसा कह रहा रघुवर, यह सब सत्य-सत्य है बात;
उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखकर सत्वर तुमको होगा ज्ञात।

(१०१)

वहां तुम्हारी मृगनयनी की शोचनीय स्थिति को अवलोक;
प्रात सखी ने इसकी माँ से वर्णन की सब दशा सशोक।
तनया का दुख सुनकर उसके बह निकला नयनों से नीर;
आर्द्र-हृदय यों दुःख श्रवण कर हो जाता है अधिक अधीर।

(१०२)

इसे बुलाकर यों बोली वह निर्दय ने तुझको छोड़ा;
भद्रे! दुःख उठा वहाँ उसने क्यों सुख से है मुख मोड़ा।
लोल लाल तव युगल विलोचन अश्रु गिरते दिखलाते;
सफरी की किल्लोल से कम्पित अरुणाम्बुज-सी छवि पाते।

(१०३)

तेरे युगल मृदुल भुज सुन्दर हैं अन्तर के तप से क्षीण,
मृदु मृणाल-जैसे ग्रीष्म में हो जाते हैं शोभा-हीन।
सुन्दर रसमय कदलि स्तंभ-सा तथा दूसरा ऊरु उज्ज्वल;
विरहानल के उष्ण अनिल से झुलसाकर होता चंचल।

१०४

वत्से! स्वच्छ सदा रह अब तू अपने मन से शोक विसार;
सावधान हो सम्भाषण कर मुझ दुखिया पर दया विचार।
होना होता तो हो जाता तब परिणय उससे उस काल;
पर अब कठिन कण्ठ में उसके पड़ना तेरे बाहु-मृणाल।

(१०५)

गोदों में रख मृदु वचनों से माँ के समझाने पर भी;
यह कृश होती गई न त्यागा वह मानस-दुख क्षण-भर भी।
कोमलांगि अब तनु न त्याग दे, इससे तुम जाकर हे धीर;
सत्वर मान रखो मानिनी का विनत वचन कहकर गम्भीर।

(१०६)

जननी की शत शिक्षाओं की अवहेला कर, करके शोक;
लटें खोलती सखियों के कर अपने पाणि-पद्म से रोक।
गद्गद हो अस्पष्ट स्वरों में सम्भाषण करके सविषाद;
पहुँचाया इसने उन सबके अन्तस्तल मे विषम विषाद।

(१०७)

सुभग तुम्हारे समाचार हित इसने कहकर सारा हाल;
पहले वृद्ध विप्र भेजा था रैवतगिरिवर पर उस काल।
तुम्हें कुशल सुन उसके द्वारा हुआ इसे क्षण-भर सन्तोष;
समाचार प्रिय का देता है मिलने से कुछ ही कम तोष।

(१०८)

बिना तुम्हारे दुःखित-सी यह कनक सदन में रहकर म्लान;
बड़े कष्ट से काट रही थी प्रति बासर को वर्ष-समान।
किन्तु कुशल सुशल सुनते ही तुमको इसके उन संकल्पों संग;
वाम भाग्य के होने पर भी चपल चित्त में उठी उमंग।

(१०९)

फिर पितु-अनुशासन पाकर यह गिरि पर यहाँ हमारे साथ;
प्राणनाथ के चरण-शरण में होने आई आज सनाथ।
निर्दय मार विषम विशिखों से छेद रहा इसका हृद्धाम;
अभय दान दे इसे बचाओ पहला यही तुम्हारा काम।

(११०)

"यदि तुम हो धर्मज्ञ, मुझे तो इस प्रकार क्यों करते त्यक्त;
मैं दुखिनी सहचरी तुम्हारी एक चित्तवाली अनुरक्त।"
उत्कंठा से पद्य बनाकर कहलाती मेरे मुख से;
मुझ पर कृपा करो हे यदुपति, इसको स्वीकारो सुख से।

(१११)

गिरि दुर्लंघ्य चंचल अचला दधि गम्भीर अनल द्युतिमान;
रूप रमायुत मकरध्वज को लख करके लावण्य-निधान।
नरवर! इसकी शील-बुद्धि लख कहता हूँ मैं सत्य सही;
इसके सर्व गुणों की समता एक जगह है कहीं नहीं।

(११२)

इसे त्यागकर इधर शैल पर आ जब तुमने लिया विराग;
इधर गगन में घुमड़ घनों ने किया विश्व को सरस सराग।
दिनकर को ढँककर फैलाया मनसिज का मायामय जाल;
इसे कल्प सा ज्ञात हुआ तब दुखदायक यह पावस काल।

(११३)

किसी भाँति जब अर्धरात्रि में निद्रा नयनों में भरती;
तुम्हें स्वप्न में देख उपस्थित कहने की इच्छा करती।
मानो तब होने को जाते मेरे पूर्व पाप कुछ शान्त,
किन्तु हमारा स्वप्न-मिलन भी देख न सकता क्रूर कृतान्त।

(११४)

कर न सका वह रूप रमा से नाथ तुम्हारे तप को भंग,
उसी वैर वश मुझ अबला पर छोड़ रहा शर क्रुद्ध अनंग।
इससे रजनी में तरुओं के कोमल किसलय-आसन पर,
मम विलोचनों से गिरते हैं मोती से आँसू सुन्दर।

(११५)

बरसाया नीरदमाला ने इस नग के नीपों पर नीर;
यादवेन्द्र उसको चुपके से चोर चोर कर धीर समीर।
शीतल होकर बना हुआ है मन्मथ के खर विशिख-समान,
पर उससे मैं भेंट रही हूँ लगा आपके तनु से जान।

(११६)

इसे सोचकर करुणा करके हो प्रसन्न मुझ पर हे कान्त;
सुधा-तुल्य तव अंग-संग से कर दो मेरे तनु को शान्त।
तव वियोग के विषमातप से तपकर हो लावण्य-विहीन
केवल प्राण धारता है जो आश्रयहत-सा दीन-मलीन।

(११७)

अवधि-रहित तव विषम विरह से जिस तनु ने भोगा दुख भोग;
वही अंग अब चिर सुख भोगे पा करके तनु-शुभ-संयोग।
विगत जन्म के कर्म-विटप का फल पाता प्राणी इस काल;
नीची-ऊँची दशा घूमती जैसे चक्रनेमि की चाल।

(११८)

बढ़ा बढ़ाकर राग अत्यधिक होकर मिलनातुर अत्यन्त;
किसी तरह से दुखद दशा सम किया यहां प्रावृट का अन्त।
प्रियतम अब अपने घर चलकर कर इच्छित आमोद-प्रमोद,
शरद-निशा की सित ज्योत्स्ना में करें सौख्यप्रद विविध विनोद।

(११९)

सफल वाक्य यह इसका कर दो इसे संग ले जा आवास;
करो प्रसन्न इसे फिर सत्वर करके नित नव-नव सुविलास।
पहले रजनी में शय्या पर यह मोहान्ध हुई बोली;
रमा अन्य से तुझे स्वप्न में देखा मैंने अरे छली।

(१२०)

तुमसे मिलने को व्याकुल हो नृप कन्या यह बारम्बार,
गद्गद होकर गमन-हेतु तब त्वरा कर रही किसी प्रकार।
कभी नहीं होता प्रणयी के मन से प्रणय-भाव का ह्रास;
प्राय: विरह काल में होता सरस स्नेह का अधिक विकास।

(१२१)

दु:सह स्मर-शर से जर्जर इस कन्या पर करुणा लाओ;
यदुपति मोदमयी बातें कर सत्वर निज गृह ले जाओ।
मृदु वचनों से आश्वासन दे स्नेह-सलिल को सरसाओ;
प्राय: कुन्द-कुसुम-सा कोमल इसका जीवन विकसाओ।

(१२२)

जगतीतल पर महज्जनों के लक्षण हैं जब यह विख्यात,
अधिक और तब मैं इसके हित विनय करूँ क्यों तुमसे नाथ।
बड़े स्नेह वश नहीं बोलते याचक इसे जानते हैं;
प्रार्थी की अभिलाष-पूर्ति ही उत्तर श्रेष्ठ मानते है।

(१२३)

सत्वर निज पुर जा त्रिलोक का अतुल राज्य पा भले प्रकार;
सुखी करो गुरुजन-परिजन को विमल कीर्ति का कर विस्तार।
वर्षा में घन से चपला का रहता ज्यों सन्तत संयोग;
उसी तरह ही कभी आपसे राजमती का हो न वियोग।

(१२४)

वह विरक्त अपनी आली पर अनुनय सुन करुणा लाया,
उस अनुगता सती बाला को मर्म धर्म का समझाया।
मुक्ति-प्राप्ति-हित उसे योग दे रक्खा अविरत अपने साथ,
साधु जनों से सदा प्रार्थि को उत्तम फल आता है हाथ।

(१२५)

शैल-शिखर पर नेमिनाथ को मिला योग से केवल ज्ञान,
सुर-नर-नाग मुदित हो उनका करने लगे सरस स्तव गान।
श्रीकाशी में राजमती से छुड़वाकर नश्वर भव-भोग;
करा दिया उसका अविनाशी सुख से सन्तत शुभ संयोग।

(१२६)

कवि-कुल-भूषण कालिदास के मेघदूत का अन्तिम पाद;
कौशल से ले राजमती के दुख को दरसाया सविषाद।
सांगण सुत विक्रम ने श्री मन्नेमिचरित चित्रण रने;
सुन्दर काव्य बनाया है यह मनीषियों का मन हरने।

———०———

अनुवादक--प्रशस्तिः

(१२७)

मेदपाट भू के अन्तर्गत दुर्ग एक अत्यन्त ललाम;
चर्मण्वती नदी-तट गिरि पर भैंसरोड़गढ़ जिसका नाम।
किया यहाँ पर 'हिम्मत' ने यह संस्कृत से भाषा अनुवाद;
काव्य-रसिक पढ़ करके इसको लेवें काव्य कला का स्वाद।